Regd. No. 58414/94

स्वामी रामानन्द जी द्वारा संचालित

हमारी साधना

त्रैमासिक

वर्ष 28 • अंक 4 • अक्तूबर-दिसम्बर 2021

मूल्य रु. 25/-

अपनी महत्वाकाँक्षा को, अपनी आशाओं को पूरी तरह से माँ के चरणों में रख देना। माँ मैं कुछ नहीं चाहता - मैं कुछ चाहना भी नहीं चाहता। जो शक्ति है सो तेरी है, तू जो चाहती है मुझ से करवा ले और नहीं चाहती तो न करवा। मैं मान नहीं चाहता, मैं बड़ा बनना भी नहीं चाहता। बस चाहता हूँ पूरी तरह से तेरा हो जाना। (पत्र पीयूष - पत्र संख्या 178, पुरानी संख्या 168)

करुणामयी सुमित्रा माँ

हमारी साधना

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।
न त्वहं कामये राज्यम्, न स्वर्गम् न पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानाम्, प्राणिनामार्ति नाशनम्।।

वर्ष : 28 अक्तूबर-दिसम्बर 2021 अंक : 4

भजन

हरि सम होय कौन उपकारी।
करति सदा प्रतिपाल विश्व का सुचि सनेह उर धारी।
हेतु रहित हित करत छकति नहिं ऐसो अति हितकारी।।
जिनके भूलि भाव अस उपजति हरि सौं सरन तिहारी।
तिन कहँ देति देव दुर्लभ गति मन वांछित फल चारी।।
आरत की सुनि टेर विकल ह्वै धावति बिनहिं सवारी।
संकट सकल संघारि निमिष महँ राखति सरन सम्हारी।।
ऐसो हितू दिखाय न दूजो तीनिहुं लोक मझारी।
रामसरन सुख सुलभ न ह्वै है ऐसे प्रभुहिं बिसारी।।

भजन संख्या 20 - स्व. श्री सूर्यप्रसाद शुक्ल जी 'रामसरन'

प्रकाशक
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम,
संन्यास रोड, कनखल,
हरिद्वार-249408
फोन: 01334-240058
मोबाइल: 08273494285

सम्पादिका
श्रीमती रमन सेखड़ी
995, शिवाजी स्ट्रीट,
आर्य समाज रोड
करोल बाग,
नई दिल्ली-110005
मोबाइल: 09711499298

उप-सम्पादक
श्री रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'
1018, महागुन मैंशन-1,
इन्दिरापुरम,
गाजियाबाद-201014
ई-मेल: rcgupta1018@gmail.com
मोबाइल: 09818385001

विषय सूची

क्र.सं.	विषय	रचयिता	पृ.सं.
1.	चित्र – करुणामयी सुमित्रा माँ		2
2.	भजन	स्व. श्री सूर्यप्रसाद शुक्ल जी 'रामसरन'	3
3.	सम्पादकीय		5
4.	नम्र निवेदन	अध्यक्षा, साधना परिवार	6
5.	गीता विमर्श – श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थोऽध्याय (गतांक से आगे) – स्वामी रामानन्द जी		7-9
6.	पत्र पीयूष के मोती – पत्र संख्या 302-304		10-11
7.	Pearls from Letters to Seekers — Letter Nos. 145-147		12-14
8.	नारद-भक्ति-दर्शन		15-28
9.	दानदाताओं की सूची		29, 31
10.	सुखकर मनोवृत्ति	श्रीमती सुमित्रा सभरवाल, जालन्धर	30-31
11.	जो चाहता दीन बन्धु को तो दीनों को बना अपना	सुश्री शकुन्तला ऋषि, मेरठ	32-33
12.	प्रार्थना	डॉ. नानकराम सुन्दरानी	33
13.	प्रश्न और उत्तर	श्री 'आनन्द'	34-36
14.	प्रार्थना	श्री जगदेव जी, डौरली	36
15.	प्रार्थना की उपादेयता	श्रीमती चन्द्रावती शर्मा, मेरठ	37-38
16.	नियतं कुरु कर्म त्वं	रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'	39-41
17.	शुभ समाचार		42
18.	शोक समाचार		42
19.	अपील	अध्यक्षा, साधना परिवार	43
20.	श्री स्वामी रामानन्द जी साधना साहित्य		44

Printed and Published by Shri Dinesh Bahl for and on behalf of Swami Ramanand Sadhna Pariwar, Sadhna Dham, Sanyasa Road, KANKHAL-Haridwar (Uttarakhand) and printed at Rakmo Press Pvt. Ltd., C-59, Okhla Industrial Area Phase-I, New Delhi-110020.

सम्पादकीय

सभी साधक भाई-बहनों को राम राम!

कोरोना महामारी का प्रकोप कम होने के कारण गुरु पूर्णिमा का शिविर जुलाई माह में आंशिक रूप में आयोजित किया गया था जिसमें लगभग 50 साधक-साधिकायें ही भाग ले पाये थे। अब इस महामारी का प्रकोप और कम हो गया है और आशा है कि 15 दिसम्बर से आरम्भ होने वाला जन्म-दिवस शिविर विधिपूर्वक आयोजित किया जा सकेगा, यद्यपि प्रशासन की ओर से साधकों की संख्या केवल 200 तक सीमित रखने की ही अनुमति है। निस्सन्देह कोरोना से राहत मिली है, फिर भी इसी महामारी ने हमारे बीच से हमारे एक वरिष्ठ साधक श्री बी.के. मेहरोत्रा जी को उठा ही लिया, वह भी दिनांक 4 नवम्बर 2021 को जब हम दीपावली का त्यौहार मनाने की तैयारी कर रहे थे। श्री मेहरोत्रा जी एक अत्यन्त उदार हृदय के साधक थे जिन्होंने साधना धाम में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। साधना परिवार के लिये यह एक बड़ी क्षति है। गुरुदेव उनको अपने श्री चरणों में स्थान दें।

इस पत्रिका में आपको 'नारद-भक्ति दर्शन' नाम का एक विस्तृत लेख पढ़ने को मिलेगा जिसमें नारद-भक्ति के 82 सूत्रों का सारांश संजोया गया है। इसके अतिरिक्त सुमित्रा माँ का लेख 'सुखकर मनोवृत्ति' तथा श्री आनन्द द्वारा प्रस्तुत 'प्रश्न और उत्तर' पढ़कर विशेष सुख की अनुभूति होगी।

आपको जानकर खुशी होगी कि साधना धाम में उपलब्ध गुरुदेव का साहित्य अब धाम में आने वालों के लिये निःशुल्क उपलब्ध होगा। स्वेच्छा से यदि कोई मूल्य देना चाहे तो इस उद्देश्य से रखी गई दान-पेटिका में डाल सकता है। साधक भाई-बहनों से प्रार्थना है कि इस अवसर का लाभ उठायें और लौटते समय पुस्तकें साथ लेकर जायें, घर जाकर पढ़ें और अपने मित्रों व सम्बन्धियों को भेंट करें जिससे उनकी आध्यात्मिकता में रुचि उत्पन्न दो सके।

गुरुदेव महाराज हम सभी साधकों का मार्गदर्शन करते रहें।

गुरु चरणों में दण्डवत प्रणाम।

नम्र निवेदन

प्रिय पाठकगण,

यह देखने में आया है कि पिछले कुछ अंकों के लिये पाठकों से कोई लेख या कवितायें नहीं मिली हैं। जिसके परिणामस्वरूप साधारणतया पूर्व वर्षों के अंकों में मुद्रित लेख तथा कवितायें ही मुद्रित की जा रही हैं। यद्यपि पूर्व के अंकों में मुद्रित लेख वरिष्ठ लेखकों द्वारा लिखे गये हैं और हमारे लिये बहुत ही लाभप्रद होंगे, तथापि यदि पाठकगण स्वरचित लेख तथा कवितायें भेजेंगे तो साधकों की लेखन प्रतिभा भी उभरेगी और समयानुकूल बदलने वाले विचार भी प्रदर्शित होंगे। इससे अन्य पाठकगण पुराने लेखों के साथ-साथ गुरु-परम्परा के बारे में नये साधकों के विचारों का भी आनन्द ले सकेंगे। साथ ही पत्रिका में नयापन बना रहेगा। ऐसा प्रतीत नहीं होगा कि कोविड-19 के बाद से पत्रिका में केवल पुराने लेख ही प्रकाशित हो रहे हैं और नये लेखकों को या तो पत्रिका में अवसर नहीं मिल रहा है या नये लेखकों का अभाव सा आ गया है।

पत्रिका में प्रकाशनार्थ भजन, लेख, संस्मरण आदि रचनायें पत्रिका के मुख्य सम्पादक अथवा उपसम्पादक के पते पर प्रेषित करें। लेख आदि पूज्य गुरुदेव की साधना पद्धति से मेल खाते हुए होने चाहिए। सभी रचनायें **E-mail (rcgupta1018@gmail.com)** अथवा **WhatsApp (09711499298 / 09818385001)** पर टाइप करके या **Word / PDF / JPG Format** में भेजी जा सकती हैं, क्योंकि ये डाक या कोरियर के बजाय शीघ्र प्राप्त होती हैं।

अध्यक्षा, साधना परिवार

गीता विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थोऽध्याय

(गतांक से आगे)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥41॥

'योग के द्वारा जिसने कर्मों का संन्यास कर दिया है, जिसके संशय ज्ञान के द्वारा भली प्रकार से छिन्न हो गये हैं, जो आत्मवान् हो गया है, हे अर्जुन! उसे कर्म नहीं बांधते हैं'॥41॥

यह सारी चर्चा करके अन्त में फिर उसी नतीजे पर आते हैं कि कर्म नहीं बांधते हैं। हे अर्जुन! कर्म के द्वारा बन्धन होना अनिवार्य नहीं है। कर्म बिना बन्धन के भी हो सकता है। इसलिये तू कर्म कर। हाँ, कर्म करने का ठीक तरीका जान ले। फिर बन्धन नहीं होगा।

नैष्कर्म्य की स्थिति का फिर वर्णन करते हैं योग तथा ज्ञान की दृष्टि से। किसको कर्म नहीं बांधते?

'योगसंन्यस्तकर्माणम्' – जिसने योग के द्वारा कर्मों का संन्यास किया है। योग? कर्मयोग-कर्मब्रह्मार्पण-योग। यही तो कर्मों के त्याग का सुगम उपाय है। भगवान् में छोड़े जाते हैं कर्म। उसे अर्पण कर दिये जाते हैं। वह उसके हो जाते हैं, इसका अर्थ है जो योग की साधना के द्वारा कर्मों को प्रभु में छोड़ चुका है, जिसके कर्म सहज में ही प्रभु अर्पण होने लगे हैं, जिसका जीवन ही प्रभु-अर्पण हो गया है, उसकी यह साधना सिद्ध हुई है।

पहिले तो चेष्टा करनी होती है। बार-बार भावना करनी होती है। यज्ञेश्वर का आवाहन करना होता है पल-पल और उसके चरणों में भावना के द्वारा कर्मों की भेंट चढ़ानी होती है। फिर यह स्वाभाविक हो जाता है। यज्ञेश्वर हमारे भीतर बना रहता है, स्वतः ही हमारी कर्म की भेंट स्वीकार करता जाता है। कर्म होता ही उसकी भेंट के लिये है। तब कर्म का संन्यास हो जाता है। यह साधना की परिपक्व अवस्था है, इससे कर्म अकर्म हो जाता है।

और कहा **'ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्'** – जिनके संशय क्षीण हो गये हैं ज्ञान के द्वारा। ज्ञान संशय का नाश करने वाला होता है। प्रकाश जैसे अन्धकार को दूर करता है वैसे ही। सम्यक् बोध के अभाव में ही तो संशय रहते हैं। जब व्यक्ति किसी की कृपा से निष्ठा को पा लेता है तो संशय के लिये गुंजायश ही कहां? जब तक समझ के आधार पर कर्म नहीं होने लगता तभी तक व्यक्ति लौटकर देख सकता है। परन्तु जब बोध को जीवन में लागू किया जाने लगता है तो मानो संशयों की कब्रें खुद जाती हैं। वह मर जाते हैं हमेशा के लिये। अनुष्ठान के बल को पाकर ज्ञान विजयी हो जाता है। इस ज्ञानप्राप्ति के साधन तो ऊपर कहे ही थे – प्रणिपातादि।

पूर्णरूपेण संशय की सम्भावना से तो परे तत्त्वदर्शी ही होता है। उससे पूर्व का बोध तो विश्वास पर, गुरु के प्रति श्रद्धा पर, भगवान् के वाक्यों पर आश्रित होता है। वह सभी हिल सकते हैं, बस चोट जबरदस्त होनी चाहिए। परन्तु जो अनुभव का ज्ञान है उसे संसार का कोई तर्क, अथवा कोई बड़ी से बड़ी चोट भी हिला नहीं पाती, जैसे रोटी खाने से भूख की निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार से अनुभूति होने पर संशय की निवृत्ति होती है। उसी अवस्था में व्यक्ति पूर्णरूपेण कर्म के बन्धनों से परे हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् 2-2-8)

'हृदय की गांठें खुल जाती हैं। सभी संशय विछिन्न हो जाते हैं और इसके (व्यक्ति के) कर्म

क्षीण हो जाते हैं उस परावर (पारब्रह्म पुरुषोत्तम) के दर्शन होने पर।' यह उपनिषद् वाक्य है।

परमेश्वर की अनुभूति ही ज्ञान है और उसी से संशयों का मूलोच्छेदन सम्भव है। संशय की जड़ है अहंकार से भी परे – अविद्या जो इस नानात्व के मूल में है। भगवान् के दर्शन से अविद्या मिटती है; अत: संशयों की सम्भावना मिटती है। सभी ब्रह्ममय हो जाता है तो संशय कहाँ से हों, कहाँ निवास करें।

तीसरा लक्षण बताते हैं – आत्मवन्तम्। जो आत्मवान् है उसको कर्म नहीं बांधते। 'आत्मवान्' शब्द का प्रयोग अध्याय 2, 45वें श्लोक में हुआ था। वहाँ प्रभु अर्जुन को तीन गुणों से परे, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् होने का आदेश करते हैं। गीता में अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है।

आत्मवान् – आत्मा वाला। इस आत्मा का स्वामी। इस पर पूरा अधिकार रखने वाला ही तो इसका स्वामी होगा और यह आत्मा क्या है? क्या मन बुद्धि से परे की चेतनसत्ता आत्मा शब्द द्वारा सूचित है? ऐसा नहीं। उसी के लिये तो निर्देश है कि तू आत्मवान हो जा। 'आत्मा' तो वह सत्ता है जिस पर उस अधिष्ठातृ चैतन्य का, हमारा, आत्म-स्वरूपी चेतना का, स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। आत्मा है शरीर से अहं पर्यन्त सभी प्रकृति तत्त्वों का समुच्चय – यह देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम्। यह सभी जो भगवान् की अपरा प्रकृति से है।

तो क्या हम आत्मवान् नहीं हैं? सामान्य स्थिति तो इसके विपरीत है। जैसे अपने को न जानने वाला शेर का बच्चा भेड़ों में भेड़ बना रहता है। वैसी नहीं, उससे भी बुरी स्थिति होती है हमारी। हम नाचते हैं इन्द्रियों के, मन तथा बुद्धि के इशारे पर। प्राणों की मांग पर अपना आपा खो देते हैं। हम तो जानते ही नहीं कि यह सारी प्रकृति हमारे लिये है, हम इसके लिये नहीं हैं। हम अपने को इसका दास समझते हैं, जब कि वास्तव में यह हमारे नौकर चाकर हैं।

यह जो आपा है यह तो साधन है विभिन्न स्तरों में अनुभव प्राप्त करने का। वह अनुभूतियाँ हमारे भीतर प्रसुप्त सम्भावनाओं की जागृति के लिये आवश्यक होती हैं। हमारे विकास के लिये अनिवार्य होती हैं। जैसे बढ़ई के पास काम करने का बसूला होता है वैसे ही यह आपा है हमारे पास। जैसे बढ़ई बसूले की सेवा भी करता है काम लेने के लिये, वैसे ही हमें इसकी सेवा भी करनी होती है अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये। परन्तु हम तो भूल जाते हैं। इस आपे को अनुभव का साधन न समझकर सुख-प्राप्ति का साधन बना लेते हैं। इस व्यभिचार के परिणामस्वरूप हम अपने स्वामित्व को खो देते हैं। इसके दास बन जाते हैं, इन्द्रियों के चेरे हो जाते हैं।

वह व्यक्ति जो इस आपे का स्वामी है, जो इसका सदुपयोग कर सकता है, जिसके निर्देश के अनुसार उसकी प्रकृति काम करती है, वह है आत्मवान्। वह आपे वाला है, मालिक है।

जो इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न है वह कर्म के बन्धन से रहित रहता है, करता हुआ भी।

संशय होने पर, अपने पर अधिकार न होने पर अथवा कर्म त्याग न होने पर कर्म का बन्धन होगा, यह तो स्पष्ट ही हो जाता है। इसलिये अन्त में अर्जुन को आदेश देते हैं –

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।42॥

'इसलिये अज्ञान से पैदा हुए, हृदय में स्थित इस संशय को अपनी ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग का आचरण कर। तू उठ खड़ा हो, हे अर्जुन!'।।42।।

जैसे ऊपर लिखा था, अर्जुन के विषाद के मूल में भी तो संशय ही है। क्षात्र-धर्म के आचरण से पाप होगा, दूसरों का अनिष्ट होगा और मेरा भी – यह था उस संशय का स्वरूप। अब तक उसने कई युद्ध किये थे। कई वीरों को धराशायी किया था,

परन्तु आज उसे सन्देह हो रहा है – यह पुण्य है या पाप है? करणीय है, अकरणीय है?

प्रभु कहते हैं इस संशय का कारण है अज्ञान। तू कर्म के रहस्य को नहीं समझता। इसके यज्ञमय स्वरूप को नहीं जानता। यज्ञ के अधिष्ठातृ प्रभु, मुझ को नहीं जानता, तभी तो आज सन्देह हो रहा है। संशय तेरे लिये भयावह है। तेरे इस लोक और परलोक को बिगाड़ देगा। तेरे सुख का, शक्ति का अपहरण कर लेगा।

यह संशय तो भीतर गया हुआ है गहरे में। तेरे हृदय में इसने डेरा लगा लिया है। बुद्धि तक ही रहने पर संशय विषाद का कारण नहीं होता, दिमागी उथल-पुथल का कारण होता है। परन्तु जब वह धंस जाता है भीतर हृदय को प्रभावित करता है तो सारा शरीर शिथिल हो जाता है। अंग-अंग गलने लगता है। हृदय ही तो आपका केन्द्र है। वही डूबने लगता है तो सभी डूबने लगता है, यही तो अर्जुन की दशा थी। वह तो खड़ा भी नहीं रह सकता था, 'यह संशय-रोग तेरे हृदय में बसा है।' शत्रु का निवास-स्थान भी तो बताना होता है।

इसके हनन का उपाय? अपनी ज्ञानरूपी तलवार को सम्भाल। ज्ञान ही तलवार है। किसी की तलवार को मांगकर भी युद्ध हो सकता है, परन्तु यहाँ तो वैसा न होगा। मेरे बोध से तेरा काम चलता तो इतना कहने सुनने की आवश्यकता ही न होती। तुझे अपनी ही तलवार की धार बनानी होगी।

यह ज्ञान वही है जिसकी ऊपर चर्चा हो चुकी है। 'यह सभी प्रभुमय है। यह सभी कुछ उसी में बसता है, मैं भी उसी का ही स्वरूप हूँ। कर्म उसका पूजन ही है।'

इस तलवार से संशयरूपी शत्रु को मार डाल और योग का आचरण कर।

संशय को दूर करके समुचित निष्ठा को जागृत कर और उस निष्ठा को लेकर कर्म कर। यही तेरा युद्ध-कर्म, क्षात्र-धर्म तेरा योग है। यही तेरा प्रभुप्राप्ति का साधन है, यही तेरे कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग है, इसी के करने से तो कर्म के बन्धन से नितान्त मुक्त हो सकेगा।

'संशय को दूर कर और उठ खड़ा हो, कमर कस ले। इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता का त्याग कर। तू वीर है, वीर बन कर युद्ध कर'।

यहाँ पर यह कर्म-ब्रह्मार्पण-योग समाप्त होता है। हमने देखा किस प्रकार से ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन किया। वह ब्रह्म पुरुषोत्तम सर्व-कर्ता होता हुआ भी अकर्ता है। उसकी उपासना व्यक्ति को भी वैसा कर देती है। अकर्म के रहस्य का वर्णन किया। ब्रह्म की उपासना का उपाय है यज्ञ के लिये कर्म करना। यह व्यक्ति को ब्रह्ममय कर देता है। फिर यज्ञों का वर्णन किया। ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता कही और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया और घूम फिर कर फिर उसी बात पर आ पहुँचे कि ज्ञान से संशय को दूर कर और कर्म को प्रभु के अर्पण करने का योग कर। युद्ध के पीछे समुचित निष्ठा को जागृत कर, यही तेरे लिये कल्याणकारी हो जायेगा।

किस कौशल से भगवान् कर्म-ब्रह्मार्पण के रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। यह विस्मयकर है कि वही जो कर्मयोग था, कितना विशद, व्यापक, सुगम और स्वाभाविक दीखने लगता है इस नये रूप में! कैसा सरल उपाय है! 'हींग लगे न फिटकरी, रंग भी चोखा होय'!

वही कर्म-योग जो कर्म-ब्रह्मार्पण-योग है, कर्म-संन्यास-योग के रूप में प्रकट होगा आगामी 5वें अध्याय में। प्रभु का जादूमय स्पर्श क्या लीला करता है!

(क्रमशः)

पत्र पीयूष के मोती

पत्र संख्या 302 (पुरानी सं. 257) **पलेहड़ा फार्म, मेरठ, 14.11.1948**

श्रीयुत् ....., सप्रेम आशीर्वाद!

आपका इसी महीने के आरम्भ का लिखा पत्र मिल गया था। कैम्प के कारण अब तक आपको लिख न पाया। आपने जिस उदारता से अपने विचार खोल कर रखे हैं, वह श्लाघ्य हैं।

प्यारे, आप जीवन से चाहते क्या हैं। इसके द्वारा आप क्या क्या चाहते हैं? नाम कमाना चाहते हैं, कुछ करके दिखाना चाहते हैं अथवा कुछ बनना चाहते हैं। या समझना चाहते हैं जीवन के गूढ़ रहस्यों को? या इस लोक को आदर्श लोक बना देना चाहते हैं अथवा सभी कुछ एक दम से किया चाहते हैं?

धर्म तथा विश्वास के बारे में उन लोगों की चर्चा जिन्होंने अपने भीतर खोजा नहीं, अपना अन्तरमन्थन नहीं किया, क्या कीमत रखती है? अलौकिक कहें या न कहें भगवत सत्ता मेरे लिए तो पल-पल की अनुभूति हो गई है, मैं उन लोगों के तर्कों और युक्तियों को सुनूँ तो कैसे और समझूँ तो किस तरह से? मुझे तो बाल्य-प्रलाप से अधिक वह प्रतीत नहीं होतीं। उस सत्ता के बारे में ठीक धारणा बनाना कठिन हो सकता है किन्हीं लोगों के लिये। परन्तु बिना उस जीवन के अवलम्बन के, जीवन तो केवल मात्र उच्छृंखल और सारहीन ही जान पड़ता है। तार्किक भी तो कभी उसके न होने को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जो उसके रास्ते में चलते हैं, वह तो उसको अनुभव करते हैं।

और उनकी शान्ति तथा स्थिरता, और आनन्द की मस्ती बहुत प्रभावशाली होती है। अपने को वादों के चक्कर में और तदाश्रित पार्टियों के चक्कर में मत बाँधियेगा। जीवन के तथ्य अनुभव किये बिना समाज के बारे में बड़ी बड़ी कल्पनायें और योजनायें बस चलताऊ ही होती हैं। आदमी को उलझाती ही चली जाती हैं। हित और अहित का वास्तविक बोध हुये बिना तुम चलोगे किधर को? साम्यवादी और समाजवादी जो कहते हैं, कहने दो। सभी की कसौटी पर तुम्हें पूरा उतरने की चेष्टा ही नहीं करनी है। सत्य का शोध भीतर की आँखों को बन्द करके, जीवन के सूक्ष्म तथा उदार मूल्यों का तिरस्कार करके नहीं होता। ऐसा करके पाशविकता को न्योता दिया जाता है और उसके फलस्वरूप अशान्ति प्राप्त होती चली जाती है। आज इतनी उत्पादन शक्ति के होने पर भी, इतनी उन्नति के होने पर भी संसार की अतुल परेशानी का कारण मुझे तो यही मालूम पड़ता है।

विषमता तथा समता को भी ज़रा उदार दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। जिन मूल्यों की आज हम कीमत लगाते हैं उन्हीं के पैमाने से हम नापते हैं समता तथा विषमता को। बाह्य समता काल्पनिक तथा अप्राकृतिक, असम्भाव्य तथा विनाशकारिणी है। ऐसा ही समझ में आता है। प्रकृति-नियमों के नितान्त प्रतिकूल है। और जहाँ इसका डंका बजता है वहाँ की भी ठीक जानकारी आप को इस तथ्य का परिचय दे देगी। आध्यात्मिक समता ही एक मात्र सम्भव समता है। उसी के आधार पर वास्तविक मानुषिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। मेरा कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि लोगों की दशा अच्छी नहीं होनी चाहिए परन्तु यह पैमाना जिससे हम जीवन और उसकी विषमताओं को मापते हैं और वह ग़लत है, हमारी बढ़ती हुई परेशानियों का कारण है।

मुझे समता की दार्शनिक चर्चा कोरी मूर्खता प्रतीत होती है। हम सब घोड़े, गधे, ऊँटों को घोड़े समान बना देना चाहते हैं, हम सभी को आफिसर बना देना चाहते हैं, हम सभी को अध्यापक बना देना चाहते हैं, हम सभी को बाप बना देना चाहते हैं। यही तो न? मैं तो जीवन को किसी और नज़र से देखता हूँ, मैं समझता हूँ कि जीवन में से आदर का, प्रीति का, निस्वार्थ सेवा का और श्रद्धा का उठ जाना, जीवन का घोर आघात होगा और पाश्विकता होगी।

दिमाग को खुला करियेगा। अपने जीवन को ऊँचा करियेगा। जो व्यक्तिगत कमियाँ आप को अपने में दिखाई देती हैं, उन्हें दूर करियेगा और जो **व्यक्तिगत आदर्श आपको अपील करता है उसकी ओर बढ़ियेगा।** अपने कार्य-कलाप को और समाज की समस्याओं को सुलझाने की दर्शन-चर्चा को, सभी कुछ को उसी दृष्टि से देखकर चलियेगा। एक अच्छे नगारिक – एक अच्छे मनुष्य – एक अच्छे अध्यापक – एक अच्छे पति – तथा पुत्र और पिता बनने की चेष्टा करियेगा। बहुत दिमागी उड़ानों में उड़ने की बजाय कुछ करियेगा। अपने को स्वर्णमय बना डालियेगा। विश्वास का निर्माण करियेगा। यह क्षेत्र कोरे तर्क का नहीं है। कुछ मान कर चलना (और वह भी अनुभवी व्यक्तियों के आधार पर) ही श्रेयस्कर है। मस्तक झुकाने में ही कल्याण है। अनर्गल तर्क व्यक्तियों को भयंकर स्थितियों में ले जाता है।

व्यवहार दक्ष होना ही चाहिये। बिना किसी का बुरा चाहे और करने की चेष्टा किये बिना रास्ता साफ हो, तो क्यों न किया जाये। गृहस्थ धर्म के कर्तव्य की यह माँग है। अपने संकोच की प्रवृत्ति को निकाल भगाइयेगा।

लोगों से मिलना, लोगों को समझाना और प्रभावित करना सीखना चाहिये। 'How to win friends and influence people' by Dale Carnegie. आपके लिये हितकर सिद्ध होगी। यह पुस्तक मार्केट में मिल जायेगी। आप विश्वास बढ़ाइयेगा। इससे जीवन में एक आधार मिल जायेगा और आप ऊँचे उठ पायेंगे बिना खतरे के।

मालूम पड़ता है - आपने ''अध्यात्म-विकास'' - मेरी पुस्तक ध्यान से नहीं पढ़ी है। उसे यदि आप एक बार ध्यान से पढ़ जायेंगे तो मैं सोचता हूँ कि आपकी अनेक उलझनें दूर हो जायेंगी।

आपका अपना, प्रभु के नाते,
रामानन्द

❖ ❖ ❖

पत्र-303 **मेरठ, 14.11.1948**

प्रिय ..... जी, सप्रेम आशीर्वाद!

बुराई का होना मैं इतनी भयानक बात नहीं समझता, बुराई को बुराई न समझना और उससे छूटने की चेष्टा न करना भयानक अवश्य है।

आपका अपना, प्रभु के नाते,
रामानन्द

❖ ❖ ❖

पत्र-304 **मेरठ, 16.11.1948**

प्रिय ..... जी, सप्रेम आशीर्वाद!

आपका प्रेम पत्र मिला। समाचार जानकर प्रसन्नता हुई। अनवरत आगे बढ़ते जाने की चेष्टा कीजियेगा प्रभु चरणों की ओर। उसके नाम का अवलम्बन परम बल है और परमौषधि भी है। आशा है जैसा सोचा था नियम चालू हो गया होगा। कृपा की वृष्टि भी होती होगी, आजकल प्रातः सम्मिलित ध्यान का समय 5 से 6 है। उस समय बैठेंगे तो नाम की प्रबल तरंग आपको उड़ा ले जायेंगी अपने को शिथिल कर दिया कीजियेगा।

इधर कैम्पों का सिलसिला चल रहा है। अभी 14 को प्रातः मेरठ के समीप एक कैम्प समाप्त हुआ है। दिसम्बर में XMAS में प्रयाग में कैम्प होगा।

आपका अपना, प्रभु के नाते,
रामानन्द

Pearls from Letters to Seekers

Letter No. 145 Karnavas Camp.

06.10.1951

My dear .....,

Your problem, what is most essential is that you develop the right attitude towards life. Accept everything from Him and adjust. Accept your duties towards the family as well from Him and accept them as His worship. Sit you must, even when you are on tour, but you must adjust in accordance with the circumstances and do so without any feeling of irritation or resentment within. Try to keep up the link with the Lord through the name and better still through a living spirit of self surrender that will more than compensate your deficiency of sittings.

What programme is there to suggest ? The night is yours, you have to take the necessary rest and then get time to sit. You may sit at midnight if it suits, or before you go to bed in the night. You are at liberty to adjust as best as you can.

Let not Joy be your objective in Sadhna. It is a deceptive leader. Accept it as His grace, but desire no perpetuation of it. You will have the experience which your evolution necessitates. By the desire for joy in Sadhna, you introduce an unwanted extraneous factor which comes in the way of the normal spiritual growth as He designs. Offer up this joy as well at His Holy feet.

Ma is the Divine Mother to me because I have invoked Her in Ma. I bow down at Ma's feet and she responds at once. Her touch is the Divine touch for me. It is a fact of experience. But, it has its limitations. This fact is true for me because of the invocation. People invoke the deity in a stone image. I have done so in a living person-in Ma and I realize the Divine in her, as they do in an image. Ma is the Divine Mother not to all and sundry, but only to those who have that faith in her. So, it is not an impersonal and objective fact, though it is a fact alright. Bear it in mind, That will keep you from overstating facts.

Ma has faith in me. Her faith brings down the Divine to express in this body, but for her and her alone, and not for all others. To claim divinity for any one on this account will be wrong.

This understanding does not make Ma any the lesser for me. In fact I can contact her (Her) in all. She has become unto me the focus of the Divinity which is everywhere and everything.

With love and blessings to kiddies, Pushpa ji and yourself.

Yours in the Lord,

Ramanand

❖ ❖ ❖

Letter No. 146 Karnavas Camp.

07.10.1951

My dear .....,

You are being shaken terribly, but you know that the Mother's protecting hand is with you. Why not strengthen this faith and learn to keep balanced? The state of affairs will go, but I do want you to learn this precious lesson.

What is this surrender inspite of which you feel so miserable? The inner being has conditioned its surrender. Why not demand the spirit of total unconditional surrender? That alone can give you peace and balance. It is time that you realized this fact and free yourself from this continuous nightmare.

With love & blessings,

Yours in the Lord,

Ramanand

❖ ❖ ❖

Letter No. 147 Santacruz, Bombay.

16.12.1951

My dear .....,

Yours to hand. It was rather a surprise. It did not take me any time to identify that you were writing. I came to know quite a long time ago that your wife had passed away.

Peace of mind? You will do well to take to the 'Teachings of Shri Ram Krishna Pramahansa'. Rama Krishna Mission's publications are readily available. If you can read Hindi well, I would like you to read my books.

अशान्ति में, हमारी साधना, हमारी उपासना, साधना और व्यवहार। They are small books and can be had from the Sadhna Karyalaya, Bisalpur, District Pilibhit, U.P. You may also apply for "Sadhna", a quarterly which publishes my Gita Commentary.

I hope a study of this thought will settle up much within you.

You must do some "Jap" daily. That will help you a bit. You have great faith in Lord Krishna. You may sit down with closed eyes and repeat mentally with the help of the rosary, his name. But, you have to choose the name. All names are His, but you will have to choose one and stick to it. If you could take to 'Rama' nam, you have the additional advantage of my blessings, which go spontaneously with that name. Rama is the one who pervades all and is all joy. It is a name of Lord Krishna.

Extraneous thoughts will interfere, but don't mind them at all. Let them come and go. You go on repeating राम राम without moving your lips or tongue and try to attend the repetition. The quicker it is, the better. Sit cross-legged but relax. You may sit on a पीढ़ी, if you cannot sit on the ground on account of the stiffness of joints.

Regarding your habits, liquors wreck our control system gradually and drive one away from peace. Meat as used by Indians costs heavily in terms of health in later life. The simpler and lighter your dietary, the quicker you can come to have peace. They should drop off gradually. You need not begin struggling to give them up.

Sit for "Jap" morning and evening from half an hour to an hour. During the day try to keep up the name continuously as far as possible. In the morning it is best to sit early in the morning before bath. One may sit again for sometime after bath.

You may write to me whenever you want to know or convey anything.

Yours in the Lord,

Ramanand

P.S. Do not try to meditate on the form. Let it come if it comes but make no effort to keep it up. More information you will get from the books.

नारद-भक्ति-दर्शन

भक्ति-मार्ग अध्यात्म साधन के अनेक साधनों में से एक प्रमुख साधन है। भक्त शिरोमणि देवर्षि नारद द्वारा रचित 'नारद-भक्ति-दर्शन' इस साधन का प्रमुख ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 'नारद भक्ति सूत्र' के नाम से भी प्रख्यात है, क्योंकि इसमें विषय का प्रतिपादन सूत्रों के रूप में किया गया है। इस साधन-पथ को 'प्रेम साधन' के नाम से भी पुकारा जाता है। इसी भक्ति दर्शन का संक्षिप्त विवेचन आगे की पंक्तियों में किया गया है।

भक्ति-दर्शन की चर्चा करते समय सबसे पहिले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि भक्ति किसे कहते हैं। केवल एकमात्र परमात्मा के प्रति परम, अतुल, अतिशय प्रीति या अनुराग को ही भक्ति कहते हैं। ईश्वर के प्रति परम प्रीति या अनुराग ही भक्ति का वास्तविक लक्षण है। प्रेम प्राणिमात्र की एक स्वाभाविक वृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्यों में ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। मोह, आसक्ति, राग इसके ही निम्नस्तरीय भिन्न-भिन्न रूप हैं। मनुष्यों की तरह पशु-पक्षियों में भी अपने जोड़े, अपनी सन्तान, अपने निवास स्थान तथा अपने-अपने उपयोग व उपभोग में आने वाली अन्य चीजों के प्रति आसक्ति होती है। पशु-पक्षियों में यह स्नेह उतना विकसित नहीं होता जितना मनुष्यों में। मनुष्य भी जितना अधिक विकसित होता है उसके प्रेम का दायरा भी उतना ही अधिक विस्तृत होता है। साधारणतया मनुष्य का प्रेम अपने शरीर या परिवार तक ही सीमित रहता है। पर ज्यों-ज्यों उसके हृदय की विशालता बढ़ती जाती है वह अपनी बिरादरी, अपने ग्राम, अपने सम्प्रदाय, अपने देश, फिर मनुष्य मात्र से और अन्त में प्राणिमात्र से प्रेम करने लगता है। यही प्रेम जब एक मात्र परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ रूप से प्रकट होता है तो इसे ही भक्ति कहते हैं।

यदि हम प्रेम-वृत्ति का विश्लेषण करें तो हम उसके निम्नलिखित अंग पाते हैं –

(1) हम जिस व्यक्ति या वस्तु से प्रेम करते हैं उसके प्रति हमारे मन में अपनेपन का भाव होता है, अर्थात् हम उसी से प्रेम करते हैं जिसे हम अपना समझते हैं।

(2) हम उसी वस्तु से प्रेम करते हैं जो हमारे लिये आनन्ददायक या हितकर होती है।

(3) जिस वस्तु से हमें प्रेम होता है उसका हम बार-बार चिन्तन करते हैं, उसकी स्मृति अनायास ही हमारे मन में बार-बार जागृत होती है।

(4) जिस वस्तु से हम प्रेम करते हैं उसे प्राप्त करने की, उसे अपना बना लेने की, उसके साथ निकटतम सम्पर्क स्थापित करने की, उससे चिपके रहने की तथा उसका उपभोग करने की तीव्र उत्कण्ठा हमारे मन में होती है।

(5) जिस वस्तु से हमें अनुराग होता है उस वस्तु की प्राप्ति तथा सुरक्षा के लिये हम सदा प्रयत्नशील रहते हैं तथा इस प्रयत्न में अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करने, अनेक प्रकार के कष्ट सहने तथा अपना तन, मन, धन, यहाँ तक कि अपना सब कुछ उत्सर्ग करने के लिये सदा उद्यत रहते हैं।

प्रेम की भावना जितनी गहरी होती है ये उपर्युक्त अंग भी उतनी ही मात्रा में अधिक तीव्र होते हैं। यही प्रेम जब तीव्रतम रूप धारण कर केवल ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो इसे भक्ति कहते हैं। भक्त ईश्वर को अपनी आत्मा का आत्मा, अपने जीवन का जीवन तथा अपने प्राण का प्राण मानता है। उसके लिये केवल भगवान ही रस या आनन्द के अनन्त भण्डार होते हैं। वह इनकी प्राप्ति के लिये सिवाय भगवान के और किसी ओर नहीं देखता, वह रात-दिन प्रति क्षण प्रेमपूर्ण हृदय से भगवान के चिन्तन में रत रहता है। उसके मन में भगवान के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा होती है और वह इसके लिये सर्वस्व अर्पण

करने तथा बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये सदा तैयार रहता है।

इस सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह है कि भक्ति की मनुष्य जीवन में क्या आवश्यकता है? मनुष्य को ईश्वर से प्रेम क्यों करना चाहिए? अगर गंगा जी की धारा से यह पूछा जाये ''आप सागर की ओर क्यों प्रवाहित होती हैं? इसकी क्या आवश्यकता है?'' तो वह इस प्रश्न का यही उत्तर देंगी, ''समुद्र की ओर मेरा स्वाभाविक आकर्षण है, कोई अदृश्य शक्ति मुझे अनायास ही समुद्र की ओर खींचे लिये जा रही है।'' इसी प्रकार ईश्वर की ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण है। कोई अदृश्य शक्ति उसे प्रति क्षण अनायास भगवान की ओर खींचे लिये जा रही है और वह इसके लिये विवश है। यही नहीं जो नास्तिक है, जिसे भगवान की सत्ता पर विश्वास नहीं है और जो भगवान की सत्ता का रात-दिन निराकरण करता रहता है, वह भी अनायास प्रतिक्षण भगवान की ओर खिंचा चला जा रहा है। हम यह देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी नित्य आनन्द, नित्य शान्ति तथा नित्य जीवन या अमरत्व के लिये छटपटा रहा है। अध्यात्म-शास्त्र हमें बताता है कि वास्तव में भगवान ही आनन्द, शान्ति, ज्ञान, शक्ति व शाश्वत जीवन के अनन्त आगार हैं। जो इनकी ओर प्रवृत्त होता है वह वास्तव में भगवान की ओर ही आकृष्ट होता है, क्योंकि विषयों द्वारा, इन्द्रियों द्वारा, सांसारिक साधनों द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द भी वास्तव में भगवान की ही एक अल्प व क्षणिक झलक है। अतः यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि हमें भगवान से क्यों प्रेम करना चाहिए। यह तो हमारा स्वभाव है।

अध्यात्म-शास्त्र हमें बताता है कि विषयों द्वारा भगवान का जो साक्षात्कार प्राप्त होता है वह अल्प व क्षणिक है। उसके गर्भ में दुःख का अंकुर सदा विद्यमान रहता है। अतः उससे हमें तृप्ति नहीं हो सकती। हम तो वास्तव में उस सुख को चाहते हैं जिसके बाद फिर दुःख सदा के लिये निवृत्त हो जाता है, उस शान्ति को चाहते हैं जिसको पा लेने पर फिर अशान्ति कभी होती ही नहीं। हम उस जीवन की याचना करते हैं जो नित्य व शाश्वत है। अध्यात्म-शास्त्र हमें बताता है कि इस प्रकार का जीवन केवल भगवत् साक्षात्कार द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और भक्ति वह साधना है जिसके द्वारा भगवान का साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है।

भगवत् प्रेम की विशेषतायें

भगवत् प्रेम की कई विशेषतायें हैं जो साधारण सांसारिक प्रेम में नहीं पाई जाती हैं। पहली विशेषता यह है कि भक्ति 'अमृत स्वरूपा' होती है, अर्थात् एक बार ईश्वर प्रेम जागृत होने पर फिर इसमें न किसी प्रकार की कमी होती है और न फिर यह कभी नष्ट ही होता है। यह भक्त को मृत्यु के भय से सदा के लिये मुक्त कर देता है। यह एक स्थाई भाव है जो सदा बना रहता है, दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता है और जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है। देह त्याग के बाद अगले जन्म में भी इसका अस्तित्त्व बना रहता है। अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर यह पुनः जागृत हो जाता है। ध्रुव, प्रहलाद और मीरा की तरह बाल्यकाल से इसके संस्कार दृष्टिगोचर होने लगते हैं। पर साधारण सांसारिक प्रेम अनित्य होता है। बहुधा थोड़ा-थोड़ा करके इसमें कमी होने लगती है। आगे चलकर यह प्रायः लुप्त हो जाता है और कभी-कभी तो शत्रुता का रूप धारण कर लेता है। देह त्याग के बाद साधारण सांसारिक प्रेम के सभी बन्धन समाप्त हो जाते हैं।

साधारण सांसारिक प्रेम करने वाले के जीवन में कोई विशेष अनुकूल परिवर्तन नहीं होता बल्कि आसक्ति का रूप धारण कर वह मनुष्य अत्यन्त भयंकर व निन्दनीय प्रेम कर बैठता है। ऐसा मनुष्य मृत्यु के भय से त्रसित रहता है; उसका मन अशान्त रहता है; वह सुख-दुःख व अनेक इच्छाओं के चक्कर

में पड़ा रहता है।

इसके विपरीत भगवत् प्रेम उसे अमरत्व प्रदान करता है, उसे परम शान्ति प्रदान करता है और उसे आनन्द विभोर कर देता है। वह सदा निर्भयता व आनन्द के नशे में मस्त रहता है; वह मृत्यु के भय से सदा के लिये मुक्त हो जाता है; उसकी सब सांसारिक इच्छायें, कामनायें व आकांक्षायें सदा के लिये शान्त हो जाती हैं। वह नित्य तृप्त हो जाता है; अपनी आत्मा व अपने प्रभु का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर उसे पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो जाती है। अब उसे अपने उपभोग के लिये किसी भी बाहरी चीज की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह न तो किसी से द्वेष करता है, न किसी वस्तु या व्यक्ति में आसक्त होता है, न किसी के लिये शोक करता है और न क्षुद्र भावना से किसी सांसारिक कार्य करने का उत्साह उसके मन में होता है। यह दूसरी विशेषता है।

भगवत् भक्ति की तीसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा साधक अनायास ही सिद्ध हो जाता है, उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनकी प्राप्ति के लिये साधारणतया साधक को बड़े कष्ट-साध्य तप व साधनायें करनी होती हैं। पर न तो इन सिद्धियों को प्राप्त करने की आकांक्षा उसके मन में होती है न वह इन सिद्धियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही भक्ति की ओर आकृष्ट होता है और न वह जानबूझकर इन सिद्धियों का प्रदर्शन करता है। क्योंकि सच्ची भक्ति किसी बाहरी कामना से नहीं की जाती है। उसका परम लक्ष्य तो सब कामनाओं का त्याग है। भक्त भगवान से इसलिये प्रेम करता है कि वह उसके जीवन के जीवन, उसके प्राण के प्राण हैं। वह भगवान से इसलिये प्रेम करता है कि उसकी प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिये वह अनादिकाल से इस ब्रह्माण्ड के अनेक लोकों और योनियों में अब तक भटकता रहा है। भगवान की ओर भक्त का स्वाभाविक आकर्षण ही इस प्रेम की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है।

भक्त के मन में कोई आकांक्षा नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि भक्त सब लौकिक व वैदिक कर्मों, शास्त्रों में बताये गये यज्ञों तथा पूजा-पाठ आदि के कर्मों का त्याग कर देता है। वह अन्य लोगों की तरह सब लौकिक तथा शास्त्रीय कार्य तो करता है, पर उसके कर्म उनकी तरह कर्तापन के अहंकार से युक्त होकर किसी बाहरी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं होते हैं। उसके सब व्यापार समर्पण की भावना से होते हैं। वह कर्तापन के अहंकार से रहित होता है और सब कर्म तथा उसके फल को भगवान के अर्पण कर देता है। भक्ति-दर्शन में प्रतिपादित भक्ति में यही चौथी विशेषता है।

कई कसौटियाँ हैं जिनसे भक्ति की वास्तविकता की जाँच की जा सकती है, जिनसे इस बात की जाँच की जा सकती है कि भक्ति का जो भाव मन में जागृत हुआ है वह भक्ति की उस परिभाषा के अनुकूल है या नहीं जो कि आरम्भ में दी गई थी। पहली कसौटी यह है कि साधक किसी बाहरी, किसी सांसारिक कामना से प्रेरित होकर भगवान से प्रेम नहीं करता। वह भगवान से इसलिये प्रेम नहीं करता है कि उसके द्वारा उसकी किसी सांसारिक समस्या के हल होने में सहायता मिलेगी, पर वह भगवान से इसलिये प्रेम करता है कि उसकी ओर उसका स्वाभाविक आकर्षण है तथा वे उसकी अन्तर-आत्मा, उसके जीवन के जीवन, उसके प्राण के प्राण हैं। उसके बिना उसे एक क्षण भी चैन नहीं मिल सकता।

दूसरी कसौटी यह है कि वास्तविक भक्ति में अनन्यता होती है। भक्त का मन सिवाय भगवान के और किसी वस्तु की ओर आकृष्ट नहीं होता। अन्य सब चीजों के प्रति उसमें पूर्ण उदासीनता होती है। वह अन्य सब आश्रयों का त्याग कर देता है। केवल भगवान ही उसके एक मात्र अवलम्बन होते हैं। वह भगवान से भी किसी बात की याचना नहीं करता क्योंकि उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास होता है कि उसकी जीवन रूपी नय्या के वे ही खेवय्या हैं तथा

वे ही सब विघ्न बाधाओं से उसकी रक्षा करते हुए उसे उसके गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देंगे। वह लोक व्यवहार में तथा शास्त्रों में निर्धारित उन्हीं कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है जो भगवत्-भक्ति के अनुकूल होते हैं, जो व्यवहार व कर्म इस भक्ति के विरोधी हैं, भक्ति मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले हैं, उनके प्रति उसका मन बिल्कुल उदासीन होता है।

भक्त शास्त्रों में प्रतिपादित नित्य नैमित्तिक कर्मों की ओर उदासीन रहता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह इन कर्मों का सर्वथा त्याग कर देता है। भक्ति मार्ग में भली प्रकार आरूढ़ होने से पूर्व इन कर्मों का त्याग करने से साधक के पतित हो जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। वह शास्त्रों में निर्धारित सभी कर्मों का आचरण करता है, लेकिन उदासीन भाव से। न तो उसमें कर्तापन का अहंकार होता है और न किसी बाहरी फल को प्राप्त करने की आकांक्षा ही होती है। उन कर्मों को करते समय उसके मन में केवल यह भावना रहती है कि ये काम भगवान की प्रेरणा से, उनकी शक्ति द्वारा केवल उनकी प्रसन्नता के लिये हो रहे हैं। भोजन आदि व्यवहार तो उसे उस समय तक करने ही होते हैं जब तक शरीर है। इसी प्रकार शास्त्रों में निर्धारित अन्य व्यवहार भी आजन्म होते ही रहते हैं, किन्तु बिल्कुल उदासीन भाव से। इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं कि ऐसे कौन-कौन से कर्म हैं जिनका भक्ति मार्ग में त्याग नहीं करना चाहिए और जिनका आचरण आजन्म होना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि भक्त के मन में पूजा, कीर्तन आदि के प्रति आजन्म अनुराग होना चाहिए। इनका त्याग कभी भी न करना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान की कथा आदि सुनने में आजन्म अनुराग होना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि किसी भी ऐसे कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए जो भगवत् प्राप्ति में बाधा न डालता हो। किन्तु नारद जी का यह स्पष्ट मत है कि भक्त के लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि वह अपने सब शारीरिक व मानसिक कर्म भगवान के अर्पण कर दे, सभी कर्म करते समय मन में यह भावना जागृत करे कि ये कर्म भगवान की प्रेरणा से, उनकी शक्ति द्वारा, केवल उनकी प्रसन्नता के लिये किये जा रहे हैं। उनके मतानुसार भगवान का एक क्षण के लिये भी विस्मरण न होना चाहिए, प्रति क्षण उनकी स्मृति मन में जागृत रहनी चाहिए तथा उन्हें प्राप्त करने के लिये मन में सदा परम व्याकुलता विद्यमान होनी चाहिए। भक्त को अपने सभी नित्य व नैमित्तिक काम, अपने सभी लौकिक व शास्त्रीय कर्म, भजन कीर्तन, पूजा-पाठ आदि कर्म केवल अर्पण की भावना से करने चाहिए। भक्ति-दर्शन के अनुसार समस्त कार्य भगवान को अर्पण करना तथा उनके विस्मरण में परम व्याकुलता का होना निश्चय ही भक्ति की दृढ़ता का सबसे बड़ा लक्षण है।

पिछले प्रकरण में हमने देखा कि कुछ आचार्यों के अनुसार पूजा कीर्तन आदि कार्यों के प्रति अनुराग भक्ति का वास्तविक कारण है। कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार भगवान की कथा श्रवण आदि में अनुराग होना ही भक्ति का वास्तविक लक्षण है। इसमें सन्देह नहीं कि ठाकुर जी की पूजा, भगवन्नाम का कीर्तन, भगवान की कथाओं का श्रवण आदि भक्ति-भाव को प्रकट करने व उसे विकसित करने के उत्तम साधन हैं। पर यह अनुराग तब ही फलीभूत होता है जबकि मन पूजा, कीर्तन, कथा श्रवण आदि की बाह्य क्रिया तक ही सीमित नहीं रहता, किन्तु ऐसा करते समय हृदय में भगवान के प्रति अतुल प्रेम की भावना की भी जागृति होती है। पूजा, कीर्तन, कथा श्रवण आदि बाह्य क्रियाओं से अपने भीतर रस या आनन्द की प्रतीति होती है तथा भगवान की स्मृति सतत् मन में जागृत रहती है। अगर ऐसा न हो तो पूजा-पाठ, कीर्तन, भजन तथा कथा श्रवण बजाय सहायक होने के आत्मरति के बाधक हो जाते हैं और भक्ति साधना में इनका अधिक महत्त्व नहीं रह जाता। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि बाहर

से तो पूजा होती है, पाठ होता है, कथा चल रही है, जोर-जोर से कीर्तन के स्वर का गान होता है पर अन्दर से मन किसी दूसरी ही उधेड़बुन में लगा होता है। ऐसा पूजा-पाठ, कीर्तन व कथा श्रवण का भक्ति-साधना में अधिक महत्त्व नहीं होता है। हमने यह भी देखा था कि नारद-भक्ति-दर्शन के अनुसार अपने समस्त शारीरिक व मानसिक व्यापार भगवान के अर्पण कर देना, ये सब व्यापार केवल भगवान की प्रसन्नता के लिये उन्हें रिझाने के उद्देश्य से करना, एक क्षण के लिये भी मन में उनकी विस्मृति न होने देना और ऐसा होने पर परम व्याकुलता का अनुभव करना भगवत् भक्ति, भगवान के प्रति अनुराग का वास्तविक लक्षण है।

वृन्दावन की बृज-गोपियाँ इस प्रकार की भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनका हृदय सदा अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम से परिपूर्ण रहता था। उनकी स्मृति सदा उनके मन में बनी रहती थी। एक क्षण के लिये भी उनकी विस्मृति उनके मन में परम व्याकुलता उत्पन्न कर देती थी। मुरली की ध्वनि के रूप में उनका बुलावा आने पर, रात हो या दिन वे, अपने पति, अपने बाल-बच्चों, अपना परिवार, अपना भोजन, अपनी धन सम्पत्ति, अपने समस्त सांसारिक व्यापारों को त्याग कर उनकी खोज में निकल पड़ती थीं। उनके समस्त व्यापार उनको रिझाने के लिये, उनकी प्रसन्नता के लिये होते थे। वे उनके निमित्त ही दूध दुहती थीं, दही मथती थीं, माखन बिलोती थीं, धान कूटती थीं, चक्की पीसती थीं, भोजन बनाती थीं, आँगन व मकान बुहारती थीं तथा शृंगार करती थीं। इन सब कार्यों को करते समय अपने प्रियतम कृष्ण का ध्यान उनके मन में सदा बना रहता था।

कुछ लोगों का मत है कि भक्ति के सिलसिले में गोपियों का उदाहरण अनुचित है। वे कृष्ण से इसलिये प्रेम नहीं करती थीं कि वे उनके महात्म्य, उनके ईश्वरत्व से परिचित थीं। वे तो मोहन के मनोहर रूप पर, उनके छैल-छबीलेपन पर, उनके हाव-भाव पर फिदा थीं। उनका प्रेम तो शत-प्रतिशत भौतिक स्तर का था। वह तो जार कोटि का प्रेम था। अतः भक्ति के प्रसंग में उस प्रेम की चर्चा अनुचित है। यह कथन ठीक नहीं है कि बृज गोपिकाओं को कृष्ण के महात्म्य का, उनके ईश्वरत्व का बोध न था। श्रीमद्भागवत में कई ऐसे प्रसंगों की चर्चा है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि गोपियों को कृष्ण के महात्म्य का पूर्ण ज्ञान था। रासलीला के समय भगवान कृष्ण कभी-कभी अन्तरधान हो जाया करते थे। उस समय वे कहा करती थीं – 'हे कृष्ण! तुम यशोदा-नन्दन ही नहीं हो, तुम तो सभी प्राणियों की अन्तरात्मा तथा दृष्टा हो।' पर भगवान कृष्ण बृजवासियों, बृज-गोपिकाओं तथा स्वयं यशोदा जी तक को इस ज्ञान की विस्मृति करा देते थे, ताकि जिस लीला को खेलने के लिये वह इस पृथ्वी-तल पर अवतीर्ण हुए थे, वह सम्भव हो सके और बृजवासियों व बृज-गोपिकाओं को उनके प्रति अपना मानवीय सरल शुद्ध प्रेम अर्पित करने का अवसर मिल सके। इसके अतिरिक्त **'कृष्णस्तु भगवान स्वयं'** कृष्ण तो साक्षात् मूर्तिमान ईश्वर थे। अतः उनके महात्म्य का, उनके ईश्वरत्व का ज्ञान न होने पर भी जो उनसे प्रेम करता है वह वास्तव में साक्षात् ईश्वर से ही प्रेम करता है। यदि कोई अमृत के महत्त्व को जाने बिना भी अनजाने में उसका पान करता है तो उसे अमृत-पान का पूरा फल मिल जाता है। भगवान के अवतार काल में उनके अवतार रूप के सामने उपस्थित होने पर जो उनसे किसी भी भावना से प्रेम करता है, वह उनके महात्म्य का बोध न होने पर भी, वास्तव में भगवान से ही प्रेम करता है और वह भगवत्-भक्ति के फल का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। पर यह ठीक है कि अनअवतार काल में भक्ति तभी फलदायक होती है जबकि अपने इष्टदेव के ईश्वरत्व पर जीवित जागृत विश्वास होता है। कुछ लोगों का मत है कि जिस प्रकार भगवत् प्रेम की तीव्रता तथा भगवान व भक्त के पारस्परिक

सम्बन्ध को दर्शाने के लिये फारसी साहित्य में लैला व मँजनू के आख्यान की रचना की गई है उसी प्रकार श्रीमद्भागवत में गोपिकाओं के आख्यान की रचना भगवत् प्रेम की, भक्ति की तीव्रता को दर्शाने के लिये की गई है।

शास्त्रों में अनेक साधन पथों की चर्चा है, जैसे – कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति पथ आदि। एक विचारणीय प्रश्न यह है कि इन साधन-पथों में से कौन-सा साधन-पथ सर्वश्रेष्ठ है। भगवान ने अपने मुखारविन्द से ही इस बात को बार-बार कहा है कि जितना भक्ति उन्हें प्रसन्न करती है उतना निष्काम धर्मानुष्ठान, योग, ज्ञान, वेदाध्ययन, तपस्या, वैदिक कर्मकाण्ड आदि साधन उन्हें प्रसन्न नहीं करते। **भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का यही प्रमुख कारण है।** एक कारण यह है कि भक्ति स्वयं फलस्वरूपा है। अन्य साधन पथों में काफी समय तक साधन करने के बाद ही वह मानसिक पवित्रता व मानसिक नियन्त्रण प्राप्त होता है, जिसके द्वारा साधक अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। निष्काम धर्मानुष्ठान में पहले चिरकाल तक अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करनी होती है। योग में पहले यम-नियम आदि द्वारा मन को नियन्त्रित करना होता है। यही बात ज्ञान-योग के बारे में भी कही जा सकती है। पर भक्ति तो भगवत्-कृपा का ही फल है और उसका आरम्भ ही भगवत्-कृपा से होता है। जब भगवान की अहेतुकी कृपा बरसती है तब ही साधक के हृदय में भगवत्-भक्ति का भाव जागृत होता है। पग-पग पर भगवान की कृपा द्वारा ही यह भाव विकसित होता है तथा अन्त में साधक को अपने आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

भक्ति-योग की सर्वश्रेष्ठता का दूसरा कारण यह है कि भगवान दीनताप्रिय हैं तथा अभिमान को पसन्द नहीं करते। भक्त सबमें अपने इष्टदेव की झाँकी तथा चारों ओर अपने इष्टदेव की महिमा देखता है। अतः उसके मन में किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता। उसका मन तो सदा नम्रता व दीनता से भरा रहता है। योग के अभ्यास द्वारा साधक में अनेक असाधारण शक्तियाँ जागृत होती हैं, वह अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करता है जिससे मन में अहंकार उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञान-योग की साधना में अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तत्त्व-ज्ञान व बौद्धिक ज्ञान होने से अहंकार उत्पन्न होने की आशंका रहती है। पर भक्त तो सब ओर प्रभु की महिमा के दर्शन करता है। सबमें उसे उन्हीं की झाँकी दिखाई देती है। वह अपना सब कुछ अपने प्रभु को अर्पण कर देता है। अतः उसके हृदय में दीनता का भाव जागृत होता है। **भक्ति की श्रेष्ठता का तीसरा कारण** यह है कि अन्य साधन-पथों में साधक को मुख्यतः अपने पुरुषार्थ पर निर्भर रहना पड़ता है। पर भक्ति-योग में साधक को अपने इष्टदेव के रूप में एक महान सहायक प्राप्त हो जाता है, जो पग-पग में उसका पथ-प्रदर्शन करता है, अनेक विघ्न-बाधाओं से उसकी रक्षा करता है और हाथ पकड़ कर साधन-पथ में उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर ले जाता है। **भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का चौथा कारण** यह है कि यह पथ सबके लिये सुलभ है – चाहे विद्वान हो या अनपढ़, चाहे ऊँची जाति का हो या नीची जाति का। इसके लिये न धन की आवश्यकता है, न किसी बाहरी आडम्बर की। इसीलिये स्त्रियों में, अनपढ़ लोगों में, नीची श्रेणी के लोगों में भी ऊँची कोटि के भक्त अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि भगवत्-भक्ति प्राप्त करने का मुख्य साधन क्या है? कुछ लोगों का मत है कि भक्ति का मुख्य साधन ज्ञान है। उनके अनुसार आध्यात्म-शास्त्र के मनन, चिन्तन व ज्ञान द्वारा ही हृदय में भक्ति का भाव जागृत होता है। कुछ लोगों के अनुसार भक्ति व ज्ञान अन्योन्याश्रय है, अर्थात् भक्ति का साधन ज्ञान व ज्ञान का साधन भक्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि इस बात का ज्ञान

हो जाने पर कि भगवान ही इस विश्व का आधार हैं, वे ही वास्तव में रस, आनन्द व शान्ति के अनन्त भण्डार हैं, उनकी प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, बिना उनका साक्षात्कार हुए जन्म-मरण रूपी बन्धन से, दु:ख व अशान्ति से छुटकारा नहीं मिल सकता, कभी-कभी भगवान का साक्षात्कार करने की चाह मन में उत्पन्न होती है। पर इतने ज्ञान मात्र से ही भगवत्-भक्ति का भाव हृदय में जागृत हो ही जायेगा ऐसा देखने में नहीं आता। कई लोग ज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें कर सकते हैं, अध्यात्म विषय पर विद्वतापूर्ण व्याख्यान दे सकते हैं तथा लेख लिख सकते हैं, पर उनका हृदय भक्ति-भाव से शून्य होता है।

नारद-भक्ति-दर्शन के अनुसार भक्ति ही भक्ति का साधन है और भक्ति ही भक्ति का फल है, अर्थात् भक्ति स्वयं फलस्वरूपा है। भक्तों का सत्संग करने से, भक्ति-साहित्य का श्रवण करने से, भगवत्-कृपा से मन की पवित्रता व सदाचार से, भक्तों की जीवनी का अध्ययन करने से, हृदय में भक्ति का भाव जागृत होता है। फिर यही भक्ति का भाव भक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि का कारण हो जाता है। हम देखते हैं कि राजा के बड़प्पन का ज्ञान हो जाने मात्र से राजा की समीपता व कृपा प्राप्त नहीं हो सकती। जो राजा से प्रेम करता है तथा प्रेमपूर्वक राजा की सेवा करता है, वही राजा की कृपा तथा सान्निध्य प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार भोजन के गुणों का ज्ञान होने मात्र से क्षुधा का निवारण नहीं होता। भोजन के सेवन से ही क्षुधा मिटती है। भगवान की कृपा से जिनके हृदय में भगवत्-प्रेम जागृत हो जाता है वे ही प्रेमपूर्वक की गई इस अर्चना के फलस्वरूप उत्तरोत्तर दृढ़ भक्ति-भाव प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

तुलसीदास जी के हृदय में भगवान राम के प्रति और मीरा के हृदय में भगवान कृष्ण के प्रति जो भक्ति-भाव जागृत हुआ था वह मुख्यत: ज्ञान का फल न था। उसका मुख्य आधार तो था भगवान की अहेतुकी कृपा। कहा जा सकता है कि इससे तो भगवान पर पक्षपात का दोषारोपण किया जा सकता है। जैसी कृपा उन्होंने तुलसी व मीरा पर की वैसी ही कृपा वे सब नर-नारियों पर क्यों नहीं करते। असल बात तो यह है कि भगवत्-कृपा की पात्रता साधक को स्वयं प्राप्त नहीं होती है। जिसने यह पात्रता प्राप्त कर ली है वही भगवत्-कृपा का अधिकारी होता है। भगवान के दिव्य विधान के अनुसार जन्म-जन्मान्तरों में अनेक अनुकूल व प्रतिकूल अनुभूतियाँ प्राप्त करने व शुभाचरण के पश्चात् ही वह मानसिक भूमि तैयार होती है जिसमें भगवत्-कृपा से भगवत्-भक्ति रूपी बीज आरोपित होता है। भगवत्-कृपा रूपी जल-वृष्टि से ही वह अंकुरित होता है तथा फलता व फूलता है। ऐसे लोगों को ही भगवान की कथाओं को सुनने, भक्तों का सत्संग, महात्माओं की सेवा करने, प्रेमपूर्वक भगवन्नाम का जप व कीर्तन करने में आनन्द या रस आता है। श्री रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में, ''भगवत्-कृपा रूपी वायु तो हर क्षण प्रवाहित होती रहती है। इससे वे ही लाभ उठा सकते हैं जो अपने जीवन रूपी नाव की श्रद्धा व विश्वास के पालों के फैलाने का प्रयास करते हैं''। प्रेम तर्क पर, विद्वता पर, पुस्तकीय ज्ञान पर निर्भर नहीं रहता। यह एक आन्तरिक भाव है जो अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर सहसा हृदय में उदित होता है। रामचरितमानस में भक्ति के ये साधन बताये गये हैं – भक्तों का सत्संग, श्रद्धापूर्वक भगवान की लीला-कथा सुनना, अहंकार रहित होकर प्रेमपूर्वक गुरु के चरणों की सेवा, कपट रहित होकर प्रेमपूर्वक श्रद्धा से भगवान के गुणों का गान, प्रेम व श्रद्धापूर्वक भगवान का जप, इन्द्रियों का निग्रह, सदाचार, निरन्तर शुभ कार्य करना, सारे संसार को भगवन्मय देखना, सन्तों का आदर करना, सन्तोष, स्वप्न में भी परदोष न देखना, सरलता, सबके साथ कपट रहित व्यवहार, हृदय में भगवान पर पूर्ण भरोसा होना, इत्यादि।

श्रीमद्भागवत में एक रूपक द्वारा भक्ति, ज्ञान व

वैराग्य के पारस्परिक सम्बन्ध को बड़ी सुन्दर रीति से दर्शाया गया है। भक्ति एक युवती के रूप में वृन्दावन में यमुना जी के किनारे पड़ी थी। ज्ञान व वैराग्य नाम के उसके दो पुत्र थे, जो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये थे और अचेत अवस्था में भूमि पर पड़े थे। नारद जी ने वेद व वेदान्त के घोष व गीता-पाठ द्वारा उनको जगाने का बहुत प्रयत्न किया, पर वे नहीं जगे। इस रूपक द्वारा एक तो यह दर्शाया गया है कि भक्ति ज्ञान और वैराग्य की जननी है। दूसरे यह कि बिना ज्ञान व वैराग्य के भक्ति फलदायक नहीं होती। तीसरे यह कि धार्मिक ग्रन्थों के कोरे ज्ञान द्वारा न भक्ति-भाव में ही सजीवता आती है और न ज्ञान, वैराग्य में ही। चौथे यह कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्य अध्यात्म-साधना रूपी नाव की तीन पतवार हैं। जब यह तीनों पतवार साथ-साथ उचित रूप से कार्य करती हैं तब ही साधना रूपी नाव अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है और उस तक पहुँचने में समर्थ होती है। अगर इनमें से एक पतवार भी ठीक प्रकार कार्य न करे तो नाव आगे नहीं बढ़ पाती है। और साधक अपने अभीष्ट आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अध्यात्म-साधना तब ही शीघ्रातिशीघ्र फलदायक होती है, जब हृदय भगवत्-भक्ति की भावना से परिपूर्ण होता है, बुद्धि ज्ञान से आलोकित होती है तथा मन में पूर्ण वैराग्य का भाव जागृत रहता है।

पिछले प्रकरण में हमने देखा था कि नारद-भक्ति-दर्शन के अनुसार भक्ति ही भगवत-प्राप्ति का सबसे सरल, सरस व शीघ्र फलदायक साधन है। एक विचारणीय प्रश्न यह है कि उच्च कोटि की भक्ति का वह स्वरूप क्या है जिसके द्वारा अभीष्ट फल की शीघ्र प्राप्ति हो सकती है। इसके लिये एक आवश्यक बात यह है कि भक्ति में अनन्यता होनी चाहिए। सिवाय भगवान के किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति में यह शक्ति न होनी चाहिए कि वह भक्त के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि भक्त का मन सभी भोग वासनाओं से रहित होता है, जबकि किसी भी सांसारिक भोग को भोगने की कामना उसके मन में जागृत नहीं होती है तथा किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति उसके मन में आसक्ति नहीं होती है। जब तक यह शर्त पूरी न हो जाये, भक्ति में अनन्यता नहीं आ सकती है और मन बाहरी पदार्थों की ओर आकृष्ट होता रहता है। जब तक इस बात पर दृढ़ विश्वास न हो जाये कि वास्तव में भगवान ही आनन्द, रस व शान्ति के एकमात्र अनन्त भण्डार हैं, बिना उनका साक्षात्कार प्राप्त किये अमरत्व, आनन्द व शान्ति की मनुष्य की प्यास नहीं बुझ सकती है तथा उनकी प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र सर्वोच्च लक्ष्य है, तब तक भक्ति में अनन्यता नहीं आ सकती है।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि भगवान को अपना समझते हुए, सब व्यक्तियों, वस्तुओं व घटनाओं में उनका दर्शन करते हुए अनावृत भाव से लगातार तैलधारावत् उनका भजन, नाम चिन्तन होना चाहिए। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सभी सांसारिक कार्यों को करते समय मन में उनकी स्मृति सतत् जागृत रहनी चाहिए। भजन में, भगवत्-चिन्तन में जितनी निरन्तरता होती है उतनी जल्दी अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

तीसरी आवश्यक बात यह है कि साधक को भगवान के भजन में, उनके नाम चिन्तन में, उनकी कथाओं को सुनने में स्वभावतः रस या आनन्द की प्रतीति होनी चाहिए। यह इस बात की अचूक कसौटी है कि साधक के मन में सच्चा भक्ति-भाव जागृत हुआ या नहीं। जब भगवत् भजन में स्वभावतः बिना प्रयास के रस आने लगता है तब ही यह समझना चाहिए कि हृदय में सच्चा भक्ति-भाव जागृत हो गया है। भक्ति-भाव के उत्पन्न होने तथा उसके विकसित होने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है भगवान की तथा महापुरुषों की कृपा। इन दोनों में भी भगवान की कृपा प्रधान है, क्योंकि भगवान की कृपा से ही महापुरुषों से मिलन होता है, उनका सत्संग तथा उनकी कृपा प्राप्त

होती है। भगवान की लेशमात्र कृपा साधना सम्बन्धी सब बिघ्न-बाधाओं को दूर कर देती है, साधना के लिये सब प्रकार अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर देती है तथा अल्पकाल में ही साधक को साधना-क्षेत्र में कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है।

साधारणतया जीवन में किसी अनुकूल बात का हो जाना ही भगवत्-कृपा का फल समझा जाता है। पर वास्तव में होने वाली प्रतिकूल घटनायें भी भगवत्-कृपा की ही द्योतक हैं। रोग, धन-नाश, स्वजन वियोग, तथा मृत्यु भी भगवान की कृपा को ही सूचित करते हैं। इस प्रकार की घटनाओं द्वारा साधक जो पाठ पढ़ता है वह साधना-पथ में आगे बढ़ने में उसके लिये सहायक होते हैं। मन को विमल करने के लिये, जन्म-जन्मान्तरों के संचित मल को धोने के लिये, जीवन को एक नया अनुकूल मोड़ देने के लिये भगवान कभी-कभी दु:ख, कष्ट व अभाव के रूप में अपनी कृपा बरसाते हैं। जिस प्रकार आग में तपाये जाने पर सोना निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार द:ख रूपी अग्नि में अन्त:करण की सब मलिनता भस्म हो जाती है और वह निर्मल हो जाता है। जिस प्रकार एक काँटे को निकालने के लिये दूसरे काँटे की जरूरत होती है, उसी प्रकार मनुष्य को सदा के लिये दु:ख-विमुक्त करने के लिये ही दैव के दिव्य विधान में दु:ख की रचना की गई है। इसीलिये द्रोपदी ने भगवान से दु:ख रूपी वरदान की याचना की थी। इसीलिये भगवान कृष्ण ने कहा है कि जब वे किसी को अपने निकट लाना चाहते हैं तो उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।

ऊपर यह बताया गया था कि भगवत्-कृपा के फलस्वरूप किसी महापुरुष से मिलन, उनका सत्संग व उनकी कृपा की प्राप्ति होती है। महापुरुष की क्या पहिचान है? महापुरुष वह है जिसने भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है, जो भगवत्-भाव में पूरी तरह प्रतिष्ठित है, जिसका हृदय भगवान के रंग में पूरी तरह रंग गया है, जिसमें भगवत्-भाव सदा जागृत रहता है या परमहंस रामकृष्ण के शब्दों में जिसे भगवान की चपरास प्राप्त हो गई हो। महापुरुष इस संसार में जन-कल्याण के लिये भगवान के ही प्रतीक के रूप में विचरण किया करते हैं। ऐसे किसी महापुरुष का मिलना कोई आसान बात नहीं है। पहिले तो ऐसे महापुरुष होते ही बहुत कम हैं और यदि सौभाग्य से ऐसा कोई महापुरुष मिल भी जाये तो उसे पहिचानना, उस पर पूर्ण श्रद्धा विश्वास होना कठिन है। यदि सौभाग्य से कोई ऐसा महापुरुष मिल जाये, उसे हम पहचान जायें तथा उसके प्रति हमारे हृदय में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास जागृत हो जाये, तो यह मिलन अमोघ होता है; साधक के लिये अवश्य फलादायक होता है। ऐसे अवतारी पुरुष इस संसार में भगवान की जीवित-जागृत मूर्ति हैं। उनमें और भगवान में कोई भेद नहीं होता। मनुष्य के कल्याण के लिये भगवान ही किसी महापुरुष के रूप में संसार में अवतरित होते हैं। किसी महापुरुष द्वारा ही भगवान अपनी अहेतुकी कृपा उन योग्य पात्रों पर बरसाते हैं जिन्हें वे इस कृपा का अधिकारी सयझते हैं। अत: परम श्रेय की प्राप्ति का अचूक उपाय यह है कि किसी महापुरुष की छत्र-छाया प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये, उसके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न की जाये, विनम्र भाव से उसकी सेवा की जाये तथा उसके आदेशों का श्रद्धा से पालन किया जाये।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि भगवान तथा महापुरुषों की कृपा कैसे प्राप्त होती है? जन्म-जन्मान्तरों में अनेक अनुकूल व प्रतिकूल अनुभूतियाँ प्राप्त करने के बाद, बार-बार दु:ख-रूपी अग्नि में तप कर निर्मल होने के बाद उस आचरण की ओर श्रद्धा जगती है जो साधक को भगवान के निकट ले जाती है। साधक में वह मानसिक भूमि तैयार होती है जिसमें भक्ति-रूपी बीज का आरोपण होता है तथा भगवत-कृपा रूपी जल की वृष्टि होती है जिससे भक्ति-रूपी वृक्ष अंकुरित होता है और फलता-फूलता है। मनुष्य किसी महापुरुष के सत्संग में आने पर

ही तथा उसके सत्संग से लाभ उठाने पर ही उसकी कृपा प्राप्त कर सकता है।

ऊपर इस बात पर विचार किया गया था कि वे कौन-कौन सी बातें हैं जो भक्ति-भाव को उत्पन्न करने व उसे विकसित करने में सहायक होती हैं। इसके साथ-साथ साधक को यह भी जानना चाहिए कि वे कौन-कौन सी बातें हैं जो भक्ति-भाव के विकास में बाधक सिद्ध होती हैं। भक्ति का ही नहीं किन्तु सभी साधन-पथों का सबसे बड़ा शत्रु है दु:संग। सूरदास जी के शब्दों में दु:संग से ही **''कुमति उपजत है, पड़त भजन में भंग''**। दु:संग से ही मन भगवान की ओर न जाकर विषयों की ओर जाता है और विषय-भोग की कामना को बढ़ावा मिलता है। इस कामना की तृप्ति में बाधा पड़ने पर मन में क्रोध की वृत्ति जागृत होती है। क्रोध से मोह उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य शास्त्रों में पढ़ी हुई और सन्तों से सुनी हुई हितकर बातों को भूल जाता है। इसे ही स्मृतिविभ्रम कहते हैं। स्मृतिविभ्रम से उसका विवेक नष्ट हो जाता है और बुद्धि इस बात का ठीक-ठीक निर्णय करने में असमर्थ हो जाती है कि कौन-सा काम करना चाहिए और कौन-सा नहीं करना चाहिए, कौन-सा मार्ग ठीक है और कौन-सा मार्ग गलत है। इस प्रकार विवेक के नष्ट हो जाने पर साधक का सर्वनाश हो जाता है, वह पतन के गहरे गड्ढे में गिर जाता है। काम, क्रोध आदि विकारों को अल्प समझते हुए उनकी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आरम्भ में तरंग के समान अल्प होने पर भी ये विकार दु:संग या विषय का संग पाकर समुद्र के समान विशाल हो जाते हैं। दु:संग केवल मनुष्यों का ही नहीं होता। मन को विचलित करने वाली गन्दी अश्लील पुस्तकों का पठन-पाठन, व काम-वृत्ति को उत्तेजित करने वाले नाटकों व फिल्मों को देखना भी दु:संग ही है। इनसे भी साधकों को सदा बचना चाहिए।

यह दुनियाँ संसार-सागर के नाम से भी पुकारी जाती है। यह संसार-सागर काम, क्रोध, लोभ मोह आदि नाकों से भरा पड़ा है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन हिंसक जन्तुओं से बचते हुए इस संसार-सागर को किस प्रकार पार किया जाये तथा इस सागर के दूसरी ओर उस गन्तव्य स्थान तक कैसे पहुँचा जाये जहाँ हमारा शाश्वत व वास्तविक निवास स्थान है, जहाँ अतुल प्रकाश, नित्य व अनन्त-आनन्द, शान्ति व अमरत्व का साम्राज्य है तथा जिसकी खोज में हम अनादिकाल से इस ब्रह्माण्ड में भटक रहे हैं। इसके लिये एक आवश्यक बात है दु:संग का त्याग तथा महापुरुषों का सत्संग। दु:संग ही वह भोजन है जिससे संसार-समुद्र में विचरण करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नाके बल पाते हैं। महापुरुषों का सत्संग ही वह कवच है जो इनसे साधक की रक्षा करता है। यदि नाकों को दु:संग रूपी भोजन न मिले तो ये निर्जीव व क्षीण हो जाते हैं और साधक को कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते। इसके विपरीत यदि वह सत्संग-रूपी कवच धारण कर ले तो वह सकुशल अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकता है, भवसागर के पार हो सकता है।

दूसरी आवश्यक बात है विविक्त देश का वास या एकान्त-वास। साधक को वह स्थिति प्राप्त करनी होती है जिसमें उसका मन हर समय भगवत्-भाव में रमा रहता है और बाहरी बात उसके मन को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती है। समाज में अधिकतर बाहरी प्रभाव मनुष्य-मन को विचलित कर देते हैं। इससे बचने के लिये एकन्तवास किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ समय तक किसी निर्जन स्थान में एकान्तवास करने से साधन व भजन में बहुत सहायता मिलती है। पर यदि किसी निर्जन स्थान में एकान्तवास करने पर भी मन में संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं तथा विषयों का चिन्तन होता रहता है तो ऐसे एकान्तवास से साधक को कुछ भी लाभ नहीं होता। एकान्तवास इसलिये किया जाता है कि अनवरत भजन हो, निरन्तर चलता रहे

तथा बाहरी कारणों से किसी प्रकार की बाधा उसमें उपस्थित न हो। यदि यह शर्त पूरी न हो सकी तो एकान्तवास निरर्थक हो जाता है। परिवार में, समाज में रहते हुए भी यदि मन में निरन्तर भगवत्-चिन्तन की धारा लगातार चलती रहे तो इससे भी एकान्तवास का पूरा फल मिल जाता है। यह कार्य कठिन अवश्य है पर असम्भव नहीं। इसके लिये साधक को कई नियमों का दृढ़ता से पालन करना होता है। समाज में भी वह अधिकतर अकेला ही विचरण करता है। विषयासक्त लोगों के समुदाय में उठना-बैठना उसे बिलकुल भी पसन्द नहीं होता। ऐसे लोगों से सदा दूर ही रहता है। वह उतना ही बोलता है जितना कि आवश्यक है। व्यर्थ के वादानुवाद, वार्तालाप तथा संकल्प-विकल्पों में वह अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता। केवल उन्हीं कार्यों को ओर प्रवृत्त होता है जो अपनी दिनचर्या या परहित के लिये अनिवार्य हैं तथा उन कार्यों को करते समय भी यथासम्भव अपने मन को भगवान के स्मरण में लगाये रहता है। बहुधा इस प्रकार का एकान्तवास निर्जन स्थान में किये गये एकान्तवास से अधिक फलदायक होता है, क्योंकि साधक को पग-पग पर इस बात की जाँच का अवसर मिलता है कि उसने अपने मन पर कितना नियन्त्रण प्राप्त किया है। इस क्रिया में अपना योग-क्षेम भी होता रहता है। निर्जन स्थान में विचलित करने वाले बाहरी प्रभाव नहीं होते। अत: कभी-कभी साधक को यह भ्रम हो सकता है कि उसने अपने मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। पर समाज में आने पर उसके पतन की सम्भावना बनी रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज में प्रलोभनों व मन को विचलित करने वाले वातावरण में रहते हुए भी एकान्तवास का सा जीवन व्यतीत करना कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है तथा अधिक फलदायक तो है ही।

भक्त के मन में किसी व्यक्ति या वस्तु के ममत्व की भावना नहीं होती। सबमें भगवान को देखते हुए उसके हृदय में सबके प्रति प्रेम तो होता है पर उसका मन आसक्तिरहित होता है। ममत्व तो वह भाव है जिसके फलस्वरूप मनुष्य में कुछ व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति अपनेपन की भावना होती है। उन्हें वह अपना समझता है, उनके प्रति उसके मन में आसक्ति होती है, उनके हित व उनकी सुरक्षा के लिये वह सदा प्रयत्नशील रहता है तथा उनके सम्बन्ध में उसके मन में आनन्द या दु:ख की वृत्तियाँ जागृत होती हैं। उनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति उसमें इस प्रकार के अपनेपन की भावना नहीं होती। वह उन्हें पराया समझता है तथा उनके प्रति उदासीन रहा करता है। आध्यात्मिकता की भावना पर आधारित प्रेम वह भावना है जिसके फलस्वरूप मनुष्य सबमें भगवान के, अपनी आत्मा के ही दर्शन करता है, सबके हित के लिये कार्य करता है। उसके मन में सबके प्रति अपनेपन का भाव होता है तथा सब घटनाओं में प्रभु की लीला का अवलोकन करते हुए किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना के कारण कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता।

इसके साथ-साथ भक्त का मन सत्वगुण, रजोगुण व तमोगुण को लाँघकर त्रिगुणातीत भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। न तो उसका मन तमोगुण के सूचक अज्ञान व मोह से आवृत होता है और न उसमें रजोगुण सूचक राग-द्वेष, इच्छा, अतृप्ति आदि वृत्तियाँ ही उदय होती हैं। इतना ही नहीं, वह तो स्वर्ग आदि दिव्य लोकों की प्राप्ति के उद्देश्य से वेदों व शास्त्रों में वर्णित सात्विक यज्ञों, अनुष्ठानों तथा सुकृतों की ओर भी प्रवृत्त नहीं होता है। वह सुख-दु:ख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वों में समान रहता है।

भक्त का मन योगक्षेम की चिन्ताओं से भी मुक्त होता है। न वह गृह, धन, अन्न आदि चीजों के संग्रह के विषय में कोई चिन्ता करता है जोकि उसकी जीवन यात्रा चलाने के लिये आवश्यक हैं, न वह उनकी सुरक्षा के लिये ही कोई चिन्ता करता

है, क्योंकि सिवाय भगवान के अन्य किसी बात की ओर उसका मन जाता ही नहीं। भगवान ने यह आश्वासन दिया है कि जो अनन्य भाव से श्रद्धा के साथ उनके चिन्तन में रत रहते हैं, उनके योगक्षेम का भार वे अपने ऊपर ले लेते हैं। उनकी कृपा से उन्हें अनायास ही वे चीजें प्राप्त हो जाती हैं जो उनकी लोक-यात्रा के लिये आवश्यक हैं तथा वे ही उन वस्तुओं की सुरक्षा की व्यवस्था भी कर देते हैं।

भक्त के सभी कर्म कामनारहित होते हैं। वह किसी सांसारिक फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं होता। उसके सभी कर्म समर्पण की भावना से होते हैं। उसमें कर्तापन का अहंकार भी नहीं होता। कर्म करते समय चाहे वह लौकिक हो, चाहे वैदिक या शास्त्रीय, उसमें यह भाव प्रति क्षण विद्यमान रहता है कि कर्म भगवान की प्रेरणा से, उनकी शक्ति द्वारा केवल उनकी अर्चना की भावना से किया जा रहा है। वह पलटू भक्त की तरह सदा मन में यह भाव जागृत रखने का प्रयत्न करता है –

न मैं किया न कर सकूँ, ना मैं करने जोग।
करन करावन और है, 'पलटू' कहते लोग।।

जो भक्त भक्ति की इस ऊँची अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है वह स्वयं तो भवसागर के पार हो ही जाता है पर वह अपने साथ-साथ हजारों व्यक्तियों को भी तार देता है।

प्रेम-भक्ति का लक्षण

आरम्भ में इस बात की चर्चा करते हुए कि भक्ति किसे कहते हैं, हमने देखा था केवल मात्र भगवान के प्रति अनन्य, अतुल व अतिशय प्रेम ही भक्ति का वास्तविक लक्षण है। यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावत: मन में उत्पन्न होता है कि प्रेम किसे कहते हैं। प्रेम हृदय में उत्पन्न होने वाला एक भाव है जिसकी हमें अनुभूति तो होती है, पर जिसकी हम मौखिक रीति में व्याख्या नहीं कर सकते हैं; जिसका शब्दों द्वारा ऐसा चित्र नहीं खीचा जा सकता है कि सुनने वालों को प्रेम के स्वरूप का बोध हो जाये। वास्तव में यही बात सभी अनुभूतियों के बारे में कही जा सकती है। यदि किसी से यह पूछा जाये कि मिठास किसे कहते हैं तो वह इस अनुभूति को इससे अधिक व्याख्या नहीं कर सकता कि मीठी वस्तु के सेवन से जो अनुभूति होती है, उसे ही मिठास कहते हैं। जिस व्यक्ति ने अब तक किसी भी मीठी वस्तु का सेवन नहीं किया है, कोई मीठी वस्तु खिलाकर ही उसे यह बताया जा सकता है कि मीठी वस्तु के सेवन से उसे जो अनुभूति हुई है, उसे ही मिठास कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गूँगे के स्वाद की अनुभूति के समान प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। गूँगे को गुड़ के स्वाद का आस्वादन तो होता है पर इस अनुभूति को वह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रेम में आस्वादन तो है पर शब्दों द्वारा या अन्य साधनों द्वारा उस आस्वादन की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है। अपने हृदय में प्रेम का भाव उत्पन्न होने पर ही अपने को इस बात का बोध होता है कि प्रेम किसे कहते हैं।

चाहे हम प्रेम के स्वरूप की शब्दों द्वारा व्याख्या न कर सकें, उसके प्रभाव को तो शब्दों द्वारा व्यक्त किया ही जा सकता है। प्रेम, नामरूप के बाहरी भेदभाव को मिटाकर, बाहर से भिन्न दिखाई देने वाली दो या दो से अधिक व्यक्तियों को एकत्व के एक-सूत्र में बाँध देता है। हम जिस व्यक्ति से प्रेम करते हैं उससे एकाकार हो जाते हैं, उसका सुख-दु:ख हमारा सुख-दु:ख हो जाता है। हम उसके सुख-दु:ख से उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार अपने सुख-दु:ख से। इसके अतिरिक्त प्रेम हमें उसके हित के लिये कार्य करने के लिये प्रेरित करता है, जिससे हम प्रेम करते हैं। प्रत्यक्ष में उसे तत्काल इससे सुख भी हो सकता है और दु:ख भी। इसके अलावा सच्चे प्रेम में त्याग होता है। प्रेम जितना सच्चा व शुद्ध होता है उसमें उतना ही अधिक त्याग होता है। वास्तव में

त्याग ही, बलिदान ही, सच्चे प्रेम की असली कसौटी है। एक बात और भी है। हम जिससे प्रेम करते हैं उसका चिन्तन सतत् हमारे मन में होता रहता है। एक क्षण के लिये भी उसकी विस्मृति हमें व्याकुल कर देती है। उसकी ओर हमारा स्वाभाविक आकर्षण होता है। वास्तव में भगवान ही प्रेम का वास्तविक आधार है। एक अनन्त, अविनाशी भगवत्-तत्व ही इस विश्व का आधार है। उसने ही ये अगणित रूप धारण किये हैं और वह ही इन अगणित रूपों में अनेक प्रकार से लीलावान हो रहा है। इसीलिये हम अन्य वस्तुओं व व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होते हैं। पर साधारणतया हमें उस भगवत्-तत्व की ओर से विस्मृति सी हो जाती है। इसीलिये हम अपने को उससे तथा अन्य व्यक्तियों से भिन्न समझने लगते हैं। इस अज्ञान को मिटाकर प्रेम के दायरे को विस्तृत करना ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। सब में भगवान को, एक आत्म-तत्व को देखना ही वास्तविक प्रेम है। यही सच्चे प्रेम का आरम्भ है और इसी में सच्चे प्रेम की पराकाष्ठा भी है। प्रेम का यह सच्चा स्वरूप किसी बिरले योग्य अधिकारी में ही प्रकाशित होता है, यद्यपि सभी व्यक्ति इसके अधिकारी हैं और कभी-न-कभी किसी-न-किसी जन्म में इसे अवश्य प्राप्त करेंगे। जो सच्ची लगन के साथ प्रेम के इस स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं, वे वास्तव में भाग्यशाली हैं।

सच्चे प्रेम में छः विशेषताएँ होती हैं

(1) सच्चा प्रेम गुणरहित होता है, अर्थात् सच्चा प्रेम किसी के बाहरी गुणों के कारण उत्पन्न नहीं होता। गुण परिवर्तनशील होते है, अतः उन पर जो प्रेम आधारित होता है वह स्थायी नहीं होता। गुणों में परिवर्तन होने पर प्रेम में भी परिवर्तन हो जाता है। लेकिन सच्चा प्रेम तो एक स्थायी भाव है। जिससे हम प्रेम करते हैं उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो जाये, पर सच्चे प्रेम में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह तो सदा पूर्ववत् बना रहता है। जिस प्रकार हर एक व्यक्ति अपने से प्रेम करता है और अपने में चाहे कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाये, वह अपने प्रति प्रेम को सदा वैसा ही बनाये रखता है, उसी प्रकार दूसरों के प्रति भी स्थायी प्रेम होना चाहिए। यही सच्चा प्रेम है।

(2) सच्चा प्रेम कामनारहित होता है। किसी कामना से प्रेरित होकर दूसरों से जो प्रेम किया जाता है वह सच्चा प्रेम नहीं है, क्योंकि अगर कामना की पूर्ति न हुई तो प्रेम लुप्त हो जायेगा। पर सच्चा प्रेम तो एक स्थायी भाव है।

(3) सच्चे प्रेम के एक बार उत्पन्न हो जाने पर फिर उसमें कभी भी न्यूनता नहीं होती, वह तो प्रति क्षण वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। नदी अपने उद्गम स्थान से निकलती है और आगे की ओर बढ़ती है। उसकी धारा में कभी न्यूनता नहीं होती, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार सच्चे प्रेम में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, जो कभी न्यून नहीं होती। यह तभी सम्भव होता है जब कि प्रेम न तो बाहरी गुणों पर आधारित होता है और न किसी बाहरी कामना पर ही।

(4) सच्चे प्रेम का तार कभी नहीं टूटता, वह तो सदा सुदृढ़ बना रहता है। कोई भी बाहरी घटना, कोई भी बाहरी दबाव इस तार को नहीं तोड़ सकता।

(5) सच्चे प्रेम का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिये अपने अन्दर उसकी अनुभूति तो होती है, पर उस अनुभूति को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

(6) सच्चा प्रेम केवल अनुभवगम्य है। उसका केवल अनुभव हो सकता है। इस अनुभूति को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। अनुभव ही प्रेम के वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है।

सच्चा भगवत् प्रेम हृदय में उदय होने पर साधक का मन भगवान में तल्लीन हो जाता है। वह हर क्षण उसी का चिन्तन करता है और कोई विचार उसके

मन में जागृत ही नहीं होता। वह हर एक व्यक्ति व वस्तु में उसी के दर्शन करता है। उसकी कथाओं के अतिरिक्त और किसी बात को सुनना रुचिकर नहीं होता। वह रात-दिन उसी का गुणानुवाद करता है, इसके सिवाय और कोई बात उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होती। इसी को कहते हैं प्रेमाद्वैत, अर्थात् प्रेम के मार्ग में अद्वैत की भावना तथा अनुभूति।

भक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है जबकि भक्त का भगवान की ओर स्वाभाविक खिंचाव होता है। वह भगवान से इसलिये प्रेम नहीं करता कि वे उसके किसी बाहरी स्वार्थ की पूर्ति करेंगे, किन्तु भगवान की ओर उसका स्वार्थ-रहित आकर्षण स्वाभाविक होता है। लेकिन भक्ति का एक दूसरा निम्न-स्तरीय रूप भी है। इस रूप में हम किसी सांसारिक कार्य की सिद्धि के लिये श्रद्धा व विश्वास के साथ भगवान से यह विश्वास रखते हुए याचना करते हैं कि वे सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान व दयामय हैं। वे प्रार्थना को सुनते हैं तथा उसे स्वीकार भी करते हैं। हम इसी रूप में उनका चिन्तन करते हैं। संसार के अधिकांश लोगों के लिये भक्ति का यह स्वरूप ही अधिक सुलभ है और उनमें भक्ति का यह स्वरूप ही अधिकतर दृष्टिगोचर होता है। भक्ति के इस स्वरूप को गौणी भक्ति कहते हैं। गौणी भक्ति सत्व, रज व तम इन तीन गुणों के भेद से या गीता के अनुसार आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी आदि के भेद से तीन प्रकार की होती है। युद्ध में शत्रु पक्ष की पराजय के लिये विश्वास के साथ भगवान से याचना करना तामसिक भक्ति है। अपने किसी व्यक्तिगत या पारिवारिक कष्ट के निवारण के लिये श्रद्धा व विश्वास के साथ भगवान से याचना करना राजसिक भक्ति है। सदगुणों की प्राप्ति व दुर्गुणों के निवारण के लिये प्रेमपूर्ण हृदय से श्रद्धा व विश्वास के साथ भगवान से याचना करना सात्विक भक्ति है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने किसी कष्ट के निवारण के लिये श्रद्धा व विश्वास के साथ भगवान से याचना करता है वह आर्त भक्त है। जो भगवान के स्वरूप तथा उनकी प्राप्ति के मार्ग के लिये उनसे याचना करता है वह जिज्ञासु भक्त है। जो धन, वैभव आदि की प्राप्ति के लिये भगवान से याचना करता है वह अर्थार्थी भक्त है। गीता में इन तीनों प्रकार के भक्तों को उदार ही बताया गया है, क्योंकि उनमें भगवान की सत्ता पर विश्वास होता है, उनके प्रति अतुल श्रद्धा होती है तथा उनकी स्मृति सदा मन में जागृत रहती है।

भक्ति साधना में गौणी भक्ति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे भगवान के प्रति श्रद्धा व विश्वास के दृढ़ होने में, भगवत् प्रेम के विकसित होने में सहायता मिलती है। इससे वह भूमि तैयार होती है जिसमें आगे चलकर वास्तविक नि:स्वार्थ भक्ति अंकुरित होती है तथा साधक में भजन की, सतत् नाम चिन्तन की टेव पड़ती है। गौणी भक्ति में भी तामस की अपेक्षा राजस व राजस की अपेक्षा सात्विक भक्ति अधिक कल्याण-कारिणी होती है।

नारद-भक्ति-दर्शन का यह निश्चित मत है कि अध्यात्म साधन के कर्म, योग, ज्ञान आदि साधकों की अपेक्षा भक्ति साधना में सबसे अधिक सुलभता है, क्योंकि इसके लिये किसी बाहरी विधि-विधान की एवं किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता होती है केवल हृदय में प्रेम की और सतत् पुकार की। इसीलिये इसका अभ्यास प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। यह मार्ग सभी के लिये सुलभ है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, विद्वान हो या अपढ़, ब्राह्मण हो या वैश्य अथवा किसी वर्ण का हो। भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का एक और भी कारण है। हृदय में भक्ति का भाव है या नहीं इसके लिये किसी अन्य बाहरी प्रमाण की जरूरत नहीं होती। भक्ति तो स्वयं प्रमाण है। हमारा हृदय ही हमें यह बता देता है कि उसमें भक्ति का या प्रेम का भाव विद्यमान है या नहीं। हमारे हृदय में उत्पन्न होने वाली शान्ति व आनन्द ही भक्ति-भावना का सर्वोत्तम व प्रत्यक्ष प्रमाण है।

16.8.2021 से 14.11.2021 तक के दानदाताओं की सूची

साधकगण अपने दान की राशि चैक द्वारा निम्नलिखित बैंक खातों में जमा करवा सकते हैं।

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Bank of India, Haridwar
A/c No.: 721010110003147
I.F.S. Code: BKID0007210

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Punjab National Bank, Haridwar
A/c No.: 00112010000220
I.F.S. Code: PUNB0001110

कृपा करके जमा करवाई हुई राशि का विवरण एवं अपना नाम और पता पत्र अथवा फोन द्वारा साधना धाम कार्यालय में अवश्य सूचित करें। जिससे आपको रसीद आसानी से प्राप्त हो जायेगी।

– **विष्णु अग्रवाल,** प्रबन्धक, साधना धाम, मोबाइल: 8273494285

1. सुधीर त्यागी, गाजियाबाद	3100
2. देशराज एंड संस, चण्डीगढ़	51000
3. साधना चौधरी, दिल्ली	5100
4. सुमन भण्डारी, दिल्ली	5000
5. अतुल भण्डारी, अमृतसर	3300
6. स्वर्ण ढ़ल जी मारवाड़ी, दिल्ली	2100
7. सुनीति देवी अग्रवाल, पीलीभीत	5000
8. सतेन्द्र नेगी, हरिद्वार	5000
9. मनोज गुप्ता व साधना गुप्ता, बीसलपुर	2500
10. सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	21000
11. सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	21000
12. वैभव माहेश्वरी, मुम्बई	5000
13. राजेन्द्र व आलोक मित्तल, पीलीभीत	2100
14. सात्विक आर. प्रकाश, नई दिल्ली	10000
15. हिमालय राजेश प्रकाश, नई दिल्ली	5100
16. जे.एन. तिवारी, कानपुर	2100
17. स्वतन्त्र बाला भण्डारी, अमृतसर	20000
18. इजाया जी. सुपुत्री हर्ष कपूर, गुरुग्राम	10000
19. सरल सरीन, मेरठ	2100
20. ए.के. भारद्वाज, दिल्ली	6100
21. ममता व संजय अग्रवाल, फरीदाबाद	5100
22. सुधीर सक्सेना, कानपुर	3100
23. अनिल मित्तल, बीसलपुर	5100
24. राधा व सुरेन्द्र अग्रवाल, बीसलपुर	5000
25. हरपाल सिंह राजपूत, हरिद्वार	5000
26. सुनीति देवी अग्रवाल, पीलीभीत	5000
27. दिनेश बहल, गुरुग्राम	11000
28. उषा गुप्ता, गाजियाबाद	5100
29. आर.सी. गुप्ता, गाजियाबाद	2100
30. ज्योति शर्मा द्वारा स्वाति सेखड़ी, दिल्ली	2100
31. व्यास तिवारी, हरिद्वार	3500
32. प्रमोद बाला रस्तोगी, बिजनौर	2500
33. विवेक गुप्ता, बरेली	3100
34. चन्द्र प्रकाश गुप्ता, बरेली	2200
35. आविष्कार मेहरोत्रा, गुरुग्राम	100000
36. बिजेन्द्र कुमार मेहरोत्रा, गुरुग्राम	25000
37. दिनेश बहल, गुरुग्राम	11000
38. सुनील कान्त अग्रवाल, पीलीभीत	5100
39. विष्णु अग्रवाल, बरेली	2100
40. सुनील चावला	25000
41. सुधांशु मक्कर	5100
42. दिनेश बहल, गुरुग्राम	51000
43. सुधीर कान्त अग्रवाल, मेरठ	21000
44. राजेश कुमार गुप्ता, दिल्ली	3100
45. गुप्तदान	250000
46. गुप्तदान	250000
47. गुप्तदान	250000
48. गुप्तदान	250000
49. एस.एम. इण्डस्ट्रीज	21000
50. शान्ति कान्त कुशवाहा, गाजियाबाद	5501
51. सचिन अग्रवाल, फरीदाबाद	11000

(पृष्ठ 31 पर जारी)

सुखकर मनोवृत्ति

मानव जीवन एक ऐसी पहेली है जिसे सहज में सुलझा सकना सुगम काम नहीं। पूर्व संस्कारों से बँधे हुए लेन-देन के झगड़ों के अनेक उतार चढ़ाव कई समस्याओं में उलझा कर इस जीवन को कभी न सुलझने वाली एक पहेली बना देते हैं। व्यक्ति कितनी तरह से इन समस्याओं से पार पाना चाहता है पर कहीं किनारा नहीं मिलता। लगता है नौका मध्य में है और बिना केवट के सहारे के जल प्रवाह बहा ले जा रहा है इसे। कहाँ गिरेगी पता नहीं!

एक नहीं सभी लोग ऐसा प्रतीत करते हैं। क्या साधक, क्या सांसारिक लोग सबको समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। कर्म की देनदारी तो सबके सिर पर है। वह न होती तो जीवन ही क्यों मिलता। भुगतने वाला भुगतेगा ही। दु:ख भी आयेगा, सुख भी आयेगा, परेशानी भी होगी किन्तु चैन भी मिलेगा।

जो लोग जीवन की इस द्विविध शृंखला को समझ पाते हैं; सत्संग, सत्य पठन-पाठन से जिनको बोध हो जाता है इस कर्म की गति का, वे अधिक परेशान नहीं होते। धैर्य से उस पार को देखते हुए साहस से पार कर जाते हैं इस दो धार वाली वेगवती कर्म-फल की नदी को।

सच्चे साधक की मनोवृत्ति उदार होती है। उसमें उफान कम आते हैं। विचार की दृढ़ नींव पर खड़ा रह कर वह आने वाले भूकम्प में अडिग, अडोल रहता है - साक्षीवत् देखता है इन चित्रपटों को। पीछे देखता है कि इतना बीत गया है। जो आगे आयेगा बीत जायेगा वह। न पीछे से चिपकन, न आगे की चिन्ता। भीतर समझ पैदा हो जाती है कि बिना कर्म-संस्कार के क्षीण हुए मानवी प्रकृति में सुशीलता, सुलक्षणता, समता नहीं आती। भीतर रखे पुरातन कर्म संस्कार बलात् उसे खींचते हैं बुराई की ओर, और बुराई से दु:ख का जन्म होता है। दु:ख सुख के झूले में झूलता व्यक्ति सुख की चाह में फिर मनमाने कर्म करने लगता है; पिछला भुगतते-भुगतते कई एक और शृंखलायें तन जाती हैं। सुख पाने की चाह दु:ख का पल्ला खींच लाती है। दु:ख से फिर चीत्कार करता है और सुख पर गृद्ध दृष्टि से ऊँचे से नीचे झपटता है। रही-सही अच्छाई की खाल भी उधड़ जाती है। इस तरह –

सुख मांगत दु:ख आगिल आवे (गुरु वाणी)

महात्माओं की कृपा प्रसाद से जब व्यक्ति के भीतर इतनी समझ पैदा हो जाती है, तो उसकी प्रकृति में बदलाव आने लगता है। धीरे-धीरे जैसे समझ खिलती है, उसकी प्रकृति खिलती चली जाती है। सहज सन्तोष उसका सदैव का संगी बन जाता है। साधारण चोट उसे अपने आसन से आसानी से हिला नहीं सकती। सुख की चाह उससे अमानुषिक कर्म नहीं करवाती। कामना उसे धैर्य से विचलित नहीं करती।

आत्मबल से बली हुआ वह पुरुष इन चाहों के वशीभूत विषयाकर्षण से डगमग न होकर समता के आसन पर बैठा इस होने वाले रंगमंच के खेल को साहस से साक्षी बन कर देखता है। दु:ख और सुख न टिकने वाले दो स्वप्न दीखने लगते हैं उसे। दोनों को भोगता हुआ भी वह इनसे बँधता नहीं। उसकी दृष्टि सदैव ऊँची रहती है। दु:ख का भान होता है पर वह दु:खी नहीं होता। सुख को पहचानता है पर सुखी नहीं होता।

'न कोई बैरी न ही बेगाना,
सर्व संग हमरी बन आई'

ऐसी धारणायुक्त व्यक्ति अपने में आनन्दित सुखमय बना रहता है। संसार की कोई घटना उससे उस सुख को छीन नहीं सकती।

ऐसी उदार वृत्ति ही सुखकर वृत्ति है। पर क्या यह सहज प्राप्त होने वाला स्वभाव है? कदाचित नहीं। इस तरह की दैवीगुण सम्पन्न प्रकृति बनाने के लिये नियमित दीर्घ काल की साधना का बल होना चाहिए। अच्छे और बुरे कार्यों के फल-स्वरूप ही तो मानव-जीवन मिला है। अच्छाई और बुराई दोनों

ही मानव में रहती ही हैं। साधक – 'प्रभु प्राप्ति' अर्थ साधना करने वाला व्यक्ति – नाम के बल पर धीरे-धीरे मन्द कर्मों से छुट्टी ही पाता जाता है और दैवी गुणों से भरपूर होता जाता है।

उसकी मनोवृत्ति विषयाकर्षण को छोड़ती जाती है और भगवद् गुण सम्पन्न बनती जाती है। जब विषयी वृत्ति छूटती जाती है तो भीतर की बेचैनी भी दूर होती जाती है और वह सहज आनन्द को प्राप्त करता जाता है।

नाम की ज्योति एक ऐसी निर्मल ज्योति है कि जिस हृदय में उस का प्रकाश होता है, वहाँ विषयों से आच्छादित हृदयाकाश का अँधेरा टोकरियों से ढोह कर निकालना नहीं पड़ता। वहाँ से अविद्या का तम स्वयमेव भाग जाता है। जैसे प्रकाश आते ही अँधेरा विलुप्त हो जाता है, ऐसे ही नाम साधन से विषयों का घटाटोप अँधेरा एक दम भाग जाता है – उज्ज्वल प्रकाश भीतर को उज्ज्वल कर देता है। निम्न प्रकृति – काम क्रोध लोभवृत्ति – व्यक्ति के आचरण को बिगाड़ती है। जब नाम साधन से इन का शोधन होता है तो व्यक्ति का अपने आपे पर सहज अधिकार हो जाता है शीघ्र ही, काम क्रोध का वेग उसे विचलित नहीं कर पाता। साधारण व्यक्ति का अपने पर – अपने भावमय जगत पर, अधिकार नहीं होता। उसे वहाँ ले जाता है विषयाकर्षण का वेग। भीतर उद्वेग पैदा हो जाता है। विषयों से दुर्बल भीतर झट चलायमान हो जाता है; बुद्धि मलिन हो जाती है, सदैव इन्हीं के विषय में सोचती रहती है, प्राण छटपटाता रहता है। इसकी भूख दिन-व-दिन बढ़ती ही रहती है, अग्नि में पड़ते रहते ईंधन का भाँति इसकी विषय-ज्वाला कभी तृप्त नहीं होती; पर जो भाग्यशाली नाम का साधन करता है उसकी आत्मा बली हो जाती है, और स्थिर हुए मन, प्राण, बुद्धि वाला व्यक्ति धीरे-धीरे ऊँचे उठता चला जाता है। धीरे-धीरे अपने पर, अपने मन, प्राण और भाव पर अधिकार पाता जाता है। उसकी सहज में ही आत्म तत्व में स्थिति हो जाती है, दुविधाओं का अतिक्रमण कर जाता है वह।

जब इस प्रकार आन्तरिक शोधन हो जाता है तो साधक की वृत्ति सहज, सरल, सत्वमय और स्वभाव से सुखकर हो जाती है।

– श्रीमती सुमित्रा सभरवाल, जालन्धर

16.8.2021 से 14.11.2021 तक के दानदाताओं की सूची

(पृष्ठ 29 से जारी)

52. आशुतोष त्रिपाठी, कानपुर	2100
53. वैभव माहेश्वरी, मुम्बई	11000
54. मुकेश गुप्ता, दिल्ली	2100
55. दिनेश बहल, गुरुग्राम	51000
56. तरुण आनन्द, दिल्ली	21000
57. रवि कान्त भण्डारी, लुधियाना	2100
58. सत्य नारायण गुप्ता, बंगलौर	3000
59. सत्य नारायण गुप्ता, बंगलौर	3000
60. मिलन शर्मा, दिल्ली	21000
61. आर.सी. गुप्ता, गाजियाबाद	11000
62. सतेन्द्र नेगी, हरिद्वार	2100
63. किरण कठपालिया, दिल्ली	15000
64. दिल्ली साधक समूह	4400
65. सतीश खोसला, दिल्ली	5000
66. दिल्ली साधक समूह	2200
67. सतीश खोसला, दिल्ली	100000
58. कपूर एक्यूपंक्चर क्लिनिक प्रा.लि.	50000
69. शैलेश गुप्ता, पूरनपुर	11000
70. हरिओम साधक समूह, दिल्ली	31000
71. राघव वर्मा, दिल्ली	11000
72. प्रभात सक्सेना	2100
73. चन्द्र मोहन शर्मा	11000
74. राम चन्द्र लाल, पूरनपुर	101000
75. प्रभात सक्सेना	2100
76. चन्द्र मोहन शर्मा	11000

जो चाहता दीन बन्धु को तो दीनों को बना अपना

परम शक्तिमयी माँ का यह संसार विचित्र है। जीवन को पग-पग पर उसकी अलौकिकता के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, ऐसे प्रमाण जिनको समझना साधारण मानव बुद्धि से परे की बात है। जल चर, थल चर, नभ चर – नाना प्रकार के प्राणियों का सृजन, जड़ चेतन का प्रसार तथा प्राकृतिक शक्तियों का अभ्युत्थान उसकी शक्ति की अनन्यता का परिचय दे रहे हैं। तथा इनमें भी सर्वश्रेष्ठ – मानव को अस्तित्व देकर भगवान की सृजन शक्ति मानो पूर्ण हो गई है।

यह मानव देह बड़े भाग्य से मिलती है। जन्म-जन्म की साधना तथा उत्तम कर्मों का जब एक साथ संयोग होता है तो नारकीय योनियों से सर्वोपरि मानव का जन्म होता है। यह शरीर कोई उद्देश्य लेकर संसार में अवतरित होता है और कभी-कभी बुद्ध, गुरु नानक, गाँधी और पूज्य रामानन्द जैसी विभूतियाँ बन कर अपने को सफलीभूत करता हुआ जन-जन के कल्याण का कारण बनता है। इस जीवन को सफल बनाने के अनेकों मार्ग महान पुरुषों ने प्रदर्शित किये हैं, जिनके कई में तो अत्यन्त कठिन साधना – योगाभ्यासार्थ – संसार से उपराम होने तथा सांसारिकता से दूर भाग जाने की ओर संकेत है। परन्तु इसके साथ ही जिस मार्ग की ओर जाने के लिये सामूहिक रूप से सभी महान आत्माओं एवं हमारे अध्यात्म साहित्य ने बार-बार उपदेश एवं आदेश दिया है, यह मार्ग है – दीन मानव की सेवा का कार्य, जो कालान्तर में ऐसे स्थान पर पहुँचा देता है जहाँ अहं का सर्वथा लोप होकर वसुधैव-कुटुम्बकम् की भावना जागृत हो उठती है। जो सर्वजन के कल्याण का मार्ग है।

परन्तु प्रश्न उठता है कि दीन कौन है? प्राय: धन के अभाव से पीड़ित को ही हम दीन कह देते हैं। यह सर्वथा गलत है। दीन से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो किसी भी वस्तु के अभाव से पीड़ित है, असमर्थ है, असहाय है और सब प्रकार से अपनी शक्ति को खो कर दूसरे के आश्रय की अपेक्षा रखता है। जो साधन हीन हो चुका है, जिसको आत्मविश्वास नहीं रहा, जो मानसिक रूप से दु:खी है। परम धनी है परन्तु अज्ञानता के गर्त में गिरा है। परम निर्धन है और अर्थाभाव से दु:खी है, शारीरिक तौर पर दु:खी है, रोगी है – उसकी सेवा करने वाला कोई नहीं। उसके मुँह में दो घूँट पानी डाल कर शान्ति देने वाला कोई नहीं – जिसके जीवन की डूबती नैया को सहानुभूतिपूर्ण दो शब्द पार उतार सकते हैं। किसी का सम्बन्ध जिसे नव जीवन-चेतना तथा नवीन मार्ग दिखा सकता है। ऐसे दीन हीन जन को कौन अपनाये। जो ऐसे संकट में उन्हें उबार लेता है, क्या ऐसा मानव उनके लिये साक्षात् भगवान नहीं है? हमारा बाङ्मय बताता है कि मनुष्य कैसे देवता बनते हैं? साक्षात् भगवान राम तथा कृष्ण जी का जीवन मानव लीलाओं से भरपूर क्यों दिखाया गया है? उसका तात्पर्य है – साधारण राम की तरह का मानव भी उच्च कोटि के काम कर के, दु:खी जनों को उबार कर देवत्व प्राप्त कर सकता है, अवतार कहला सकता है।

आज हमारे समाज में ऐसे दीन हीन जनों की कमी नहीं। अनेकों ऐसे मिलेंगे जिनका सहारा दूर हो चुका है, जो मार्ग से भटक चुके हैं, जो अपने अमूल्य जीवन से निराश हो चुके हैं, जिनके छोटे बच्चे अपनी भूख की ज्वाला से छटपटा रहे हैं। कहना न होगा कि आज समाज में इस प्रकार का अभाव जनित वर्ग पुकार-पुकार कर यथा-सम्पन्न व्यक्तियों से सहायता की याचना कर रहा है। उनकी कातर दृष्टि आज हम मानवों की ओर लगी हुई है जो उन्हें अभाव के गर्त से निकाल कर सन्मार्ग पर ले जायें। ऐसे दीन जनों की सहायता करना दीन बन्धु भगवान की आराधना से भी बढ़ कर बड़ा काम है।

भगवान स्वयं दीन बन्धु हैं। उनका निवास बड़े

महलों में, सम्पन्न, स्वच्छ एवं सब प्रकार से पूर्ण लोगों में नहीं। वे अपने दीन जनों के झोंपड़ों में निवास करते हैं। अतः भगवान को पाना है तो मन्दिरों में चक्कर लगाने की अपेक्षा दुःखियों के द्वार पर जाओ। उनकी सेवा करो। वहीं भगवान मिलेंगे।

सुहृदय सर्व भूतानाम् – भगवान सबके सुहृदय हैं। भगवान केवल भक्तों के ही नहीं, दीनों के भी हैं। दीनों पर भगवान की विशेष कृपा है। हम भी क्यों न उनके सेवक बनकर उस कृपा के भागीदार बन जायें।

कल्याण तो सबका भगवान के मंगलमय विधान से ही होगा। हमें तो केवल उसका निमित्त मात्र बनना है। रोगी की सेवा करने, भूले को मार्ग दिखाने, डूबते को तारने, रोते के आँसू पोंछने तथा असहाय की दर्द भरी गाथा सुनने तथा उसे यथोचित आश्वासन देने से जो आत्मिक शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है उस की तुलना केवल ब्रह्मानन्द से ही की जा सकती है। हमारे पूज्य स्वामी जी स्वयं दीन जनों के एक बड़े सम्बल हैं। हजारों दीन हीनों को उबार कर नव जीवन देने वाले गुरु के महान कार्य सदा अमर रहेंगे।

सारांश यह कि अपनी आत्मिक शान्ति एवं भगवान की प्राप्ति के अन्य साधनों में सबसे सरल एवं सुगम मार्ग दीनों की सेवा ही है। क्यों न इसी को अपना कर अपने जीवन को सार्थक बनाया जाये। इससे बड़ी शायद और कोई भक्ति नहीं। ऐसे व्यक्ति के जीवन से माँ वसुन्धरा भी धन्य हो उठती हैं जैसे कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है:–

वास उसी में है विभुवर का,
है बस सच्चा साधु वही।
जिसने दुखियों को अपनाया,
बढ़कर उनकी बांह गही॥
आत्म स्थिति जानी उसने ही,
परहित जिसने व्यथा सही।
दीनों हित जिनका वैभव है,
है उनसे यह धन्य मही॥

– सुश्री शकुन्तला ऋषि, मेरठ

प्रार्थना

गुरुदेव तेरी भक्ति का, दिल में आधार है।
और तेरे ही चरणों में मेरा अतुल प्यार है॥

अपना प्रेम देकर तूने, मेरा मन मोड़ लिया,
अपने ही चरणों की भक्ति, में मुझे जोड़ दिया।
लगा तेरे संग मेरे, हृदय का तार है॥
भटक रहा था मैं, तंग किया मोह माया,
मिला तेरे चरणों में ही, बालक को निर्भय छाया।
पाया तेरा सहारा, मुझ पर बड़ा प्यार है॥

मन में है अब आस तेरी, दर्शन की प्यास तेरी,
हृदय में जग रही है, प्रेम की प्यास तेरी।
तेरे बिन चहुँ ओर, न मेरा कोई पार है॥
स्मरण ध्यान तेरा, बल और बिश्वास तेरा,
स्वामी तू है मेरा, मैं हूँ दास तेरा।
तेरी ही दया से, बेड़ा मेरा पार है॥

गुरुदेव तेरी भक्ति.....॥

- डॉ. नानकराम सुन्दरानी

प्रश्न और उत्तर

बुरे विचार किस प्रकार मस्तिष्क से दूर किये जा सकते हैं?

जब भी कोई बुरा विचार एक बार दिमाग में आ जाता है, वह बार-बार आकर अपनी जड़ें मजबूत करना चाहता है। प्रथम प्रेरणा उस विचार को संघर्ष करके निकाल बाहर करने की होती है। हम संघर्ष करते हैं; अपनी शक्ति व्यय करते हैं पर परिणाम कुछ नहीं निकलता। ऐसा करते समय हम प्रकृति के उस नियम को भूल जाते हैं कि क्रिया-प्रतिक्रिया समान मात्रा में साथ-साथ होती हैं। गेंद को दीवार पर फैंक कर मारने से वह टकराकर पुनः वापस आ जाती है। जोर से फैंकने पर जोर से लौटती है और धीमे से फैंकने पर धीमे से। प्रत्येक स्थल पर यह नियम लागू होता है। किसी विचार को वेग से बाहर फैंकने में वह उसी गति और वेग से वापस आकर टकराता है और यह संघर्ष बार-बार करना पड़ता है। महीनों और वर्षों के सघर्षों के उपरान्त भी हम उस विचार को बाहर नहीं निकाल पाते जबकि बहुत सी शक्ति खर्च कर देने के कारण थक अवश्य जाते हैं।

बुरे विचार को दूर करने का सरल तरीका है उसके स्थान पर उसके ठीक विपरीत अच्छे विचार को स्थापित कर देना। हमें मनन करके उस अच्छे विचार को ढूँढ निकालना चाहिए। शान्ति और सावधानी से उसे अपने मस्तिष्क में स्थापित कर देना चाहिए। जिस क्षण भी बुरा विचार प्रवेश करे उसी क्षण उसके विपरीत वाले अच्छे विचार पर मनन प्रारम्भ कर देना चाहिए। मानवीय मन दो वस्तुओं पर एक साथ कभी भी एकाग्र नहीं हो सकता। अतः अच्छे विचार पर ध्यान केन्द्रित करने के परिणाम स्वरूप बुरे विचार अपने आप बाहर निकल जायेंगे और शक्ति भी खर्च नहीं होगी। बारम्बार ऐसा करने से अच्छा विचार अपनी जड़ें मजबूत कर लेगा। बुरे विचार को पुनः अन्दर आने में कठिनाई होगी और वह निष्प्राण होकर सदा के लिये शान्त हो जायेगा।

संघर्ष का मार्ग मृत्यु का मार्ग है और दूसरा मार्ग विकास का मार्ग है, प्रभु की योजनानुसार कार्य करने का मार्ग है। हम कोई सा भी मार्ग चुनने के लिये स्वतन्त्र हैं।

विकास क्रम का अन्त कहाँ होगा?

इस प्रसंग में श्री गुरुदेव का कहना है ''यह समस्या कितनी कठिन है, साधारण दृष्टि से भी इसका अनुमान लगाना आसान है। एक बन्दर के लिये मनुष्यत्व की कल्पना जितनी असम्भव हो सकती है, उतनी ही कठिन है अगामी और विकास के विषय में कल्पना करना .... अनन्त के गर्भ में क्या कुछ छिपा है, यह कहना कैसे बने, अन्यथा अनन्त शान्त ही न हो जाये!'' .... ''हम और आगे की नहीं कह सकते। इस ऊँचे शिखर से और भी कोई ऊँचा शिखर है अथवा नहीं। यदि है तो उससे क्या दीखता है, हम कह नहीं सकते। 'है' को हम जानते नहीं और 'नहीं है' का दावा करना अनुचित है।''

हमारी चेतना शक्ति विस्तृत होती जा रही है और उसके सामने विकास की एक के बाद एक उच्चतर श्रेणियाँ विद्यमान हैं। देवत्व की हम चर्चा नहीं करते किन्तु इतना तो कह ही सकते हैं कि मनुष्यत्व के आगे दिव्यत्व अवश्य है। अभी हमारा ज्ञान बुद्धि के क्षेत्र तक सीमित है। समाधि ज्ञान तथा महाचैतन्य का क्षेत्र अभी हमारे आगे है। वह ज्ञान जिससे एक अणु तक अपनी कथा अपने आप कहने लगता है, हमारे भीतर सहज में स्फुरित होने लगता है। उससे परे वह ज्ञान भी जिससे 'सभी का एकीकरण एक में होकर एक का दर्शन अनेक में होता है, अभी बाकी है।'

हमारी बुद्धि का ज्ञान अभी कितना सीमित है यह हम तब तक नहीं समझ पाते जब तक कि

हमें उसकी उच्चतर उन्नति का आभास नहीं मिल जाता। तभी हमारी समझ में आता है कि वास्तव में अपनी बुद्धि के लिये हमें जितना गर्व है वह तो एक बहुत क्षुद्र वस्तु है और भविष्य में उसके अन्दर विशाल सम्भावनायें हैं। अत: वर्तमान अवस्था में वह विकास के आदि-अन्त को समझ सकने में असमर्थ है। भगवान के मस्तिष्क में विकास की क्या योजनायें हैं, इसे शायद ही कोई जानता हो (कम से कम हम तो नहीं जानते)। इतना अवश्य कह सकते हैं कि भगवान का बनाया हुआ एक निश्चित विकास क्रम है।

क्या मुक्ति में कुछ स्वार्थ का आभास नहीं होता? क्योंकि मुमुक्षु केवल स्वयं ही मुक्त होता है जबकि **'परहित सरिस धरम नहिं भाई'** कहा जाता है।

मुक्ति के बारे में जो प्रचलित धारणायें हैं उनके आधार पर मुक्ति में स्वार्थ की कुछ गन्ध भले ही आती हो किन्तु हमारी विचारधारा तो मुक्ति को जिन अर्थों में लेती है उसमें केवल नि:स्वार्थ सेवा के ही दर्शन होते हैं। जरा-मरण से छुट्टी पायें, आवागमन से छुटकारा हो – संसार चक्र से निकल जायें – ऐसा ही कुछ मोक्ष के बारे में सोचा जाता है। संसार के दु:ख ही मनुष्य को ऐसा सोचने को बाध्य करते हैं। मोक्ष के बारे में ऐसी कल्पनायें करना ऋणात्मक भावना है। हम तो संसार को एक शिक्षालय समझते हैं जिसमें हमें शिक्षा प्राप्त करनी है। बहुत से विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जो शिक्षालय को भी जेलखाना समझने लगते हैं और उससे भागने का प्रयत्न करते हैं। दया के पात्र हैं वे। ऐसे विद्यार्थी जब तक स्कूल में रहते हैं तब तक दु:खी रहते हैं और यदि भाग खड़े हुए तो अशिक्षित रह जाते हैं। परिणाम स्वरूप उनका जीवन कष्टों से परिपूर्ण हो जाता है। शिक्षा प्राप्त हो जाने पर स्कूल में रहे तो, उसके बाहिर रहें तो, कोई अन्तर वाली बात नहीं। अध्यापक भी तो स्कूल में आते ही हैं और बड़ी प्रसन्नता से आते हैं।

आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा को प्राप्त करना ही मुक्ति है – मोक्ष है। वह प्राप्त हो गई तो एक बार क्या, लाख बार भी इस संसार में आना जाना पड़े तो घबराने वाली कोई बात नहीं।

एक बात और – वैयक्तिक विकास के साथ साथ समाज का भी विकसित होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। वैयक्तिक विकास की चरम सीमा सामाजिक विकास की चरम सीमा है क्योंकि जिस समाज के व्यक्ति पूर्णत्व को प्राप्त होंगे उनके समाज की व्यवस्था भी पूर्णत्व को प्राप्त कर ही लेगी। अत: यदि व्यक्ति स्वार्थवश ही अपना विकास चाहता है और उस ओर प्रयत्नशील है तो भी उसके जाने-अनजाने समाज की सेवा होती ही रहती है।

हमारी विचारधारा में साधना भी वास्तव में साधक के लिये न होकर समष्टि के लिये होती है। इस भाव का साधना के प्रारम्भ में समझ में आना यद्यपि कठिन है किन्तु ज्यों-ज्यों व्यक्ति साधन-पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है उसे यह भाव स्पष्ट होने लगता है। आगे चलकर तो वह जीता भी अपने लिये नहीं। मंगलमयी माँ उसमें लीला करती है और वह माँ में लीला करता है। उसका सहज स्वभाव, उसकी शक्ति की सहज अभिव्यक्ति ही सेवा हो जाती है। श्री गुरुदेव का कहना है:–

''यह कोई स्वार्थपूर्ण आदर्श नहीं है। जिस प्रकार से शिक्षा प्राप्त करना, शरीर को स्वस्थ तथा बलिष्ट बनाने का यत्न करना, स्वार्थपूर्ण नहीं कहा जा सकता, वह करणीय है; इसी प्रकार से आध्यात्मिक विकास भी प्रकृति निर्दिष्ट पथ पर चलना मात्र है। यह स्वाभाविक है – सहज-धर्म का अवलम्बन है!''

''परन्तु वास्तव में यह केवलमात्र व्यक्तिगत ही नहीं! .... व्यक्ति आध्यात्मिक साधन करके अपने को दिव्यत्व की ओर ले जाता है। वह समाज को उज्ज्वल करता है और उसके साथ ही साथ अतिमानुषी विकास करने वाली शक्ति को क्रियाशील कर देता है। जिससे उसका प्रवाह आना सुगम हो जाता है;

दूसरे लोग भी उसके निर्मित पथ पर चल सकते हैं और अधिक सुलभता से। वह अनजाने में भी, मनुष्य के तो क्या, प्राणिमात्र के विकास को आगे ले जाने में सहायक होता है। जैसे एक अन्वेषक (explorer) अपनी ही उत्सुकता की शान्ति के लिये अन्वेषण करता है तो भी उसका अन्वेषण आने वाले अन्वेषकों और बाद में सर्वसाधारण के लिये सहायक होता है।''

''स्वार्थ त्याग अध्यात्म साधना का मूल मन्त्र है। ऐसे व्यक्ति की नूतन शक्ति, उपार्जित दिव्यत्व लोक कल्याण के लिये ही हो सकते हैं; उसे उससे अपना तो कुछ साधना नहीं होता। उसका जो कुछ साधित होना था सो तो पूर्व में ही हो चुका।''

हमारी प्रार्थनायें उत्तर क्यों नहीं लाती?

प्रार्थना के प्रभाव को प्राय: सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और कोई-कोई तो उसे निरर्थक और निष्फल चीज़ समझते हैं। भगवान सदैव ही अपने विधान को पूरा करते हैं और व्यक्ति के अहं की स्वार्थपूर्ण स्तुति एवं प्रार्थना से पथभ्रष्ट नहीं होते। भागवती विधान की पूर्ति निरे यान्त्रिक नियम से नहीं बल्कि कुछ शक्तियों द्वारा कार्यान्वित होती है, और उन शक्तियों में से कम से कम मानव जीवन के लिये मानव संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा कुछ कम महत्व की नहीं। प्रार्थना उस संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा का एक विशेष रूप मात्र है।

प्रार्थना के ढंग अनेक बार अधकचरे होते हैं परन्तु फिर भी उसमें वास्तविक शक्ति रहती है। प्रार्थना की शक्ति है मनुष्य का संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा का भागवती संकल्प के साथ सम्बन्ध जोड़ना, इस भाव से कि भागवती संकल्प उस मंगलमयी माँ का संकल्प है जिसके साथ हम सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। ऐसा कर सकने पर प्रार्थना महान एवं प्रभावपूर्ण वस्तु हो सकती है। हमारी प्रार्थनायें उत्तर तो लाती हैं परन्तु एक भागवती नियम के अनुसार जिसे समझना सदैव ही सरल नहीं होता।

– श्री 'आनन्द'

प्रार्थना

प्रेम की ज्योति जगादे मैया, प्रेम की ज्योति जगादे।

तन मन को मेरे निर्मल करदे,
हृदय को विश्व प्रेम से भरदे।
अहं भाव को मिटा के मैया,
प्रेम का भाव जगादे॥
जग में सब कुछ तेरा जानूं,
सारे नाते तुझ से मानूं।
इस सृष्टि के कण-कण में,
मैया अपना रूप दिखादे॥

द्वेष भाव से मन है काला,
निज प्रकाश दे करो उजाला।
बुद्धि का तम हर कर मैया,
ज्ञान की ज्योति जगादे॥
चित्त हो राम-चरण का चेरा,
पूर्ण रूप से हो जाऊं तेरा।
चंचलता सब मिटा के मैया,
अब तो शान्त बनादे॥

- श्री जगदेव जी, डौरली

प्रार्थना की उपादेयता

जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिये भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार मन, शरीर और विचारों को पवित्र रखने के लिये प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना में हम प्रभु के सामीप्य का अनुभव करते हैं। जैसे छोटा बालक माँ की गोद में पहुँच कर अपने को सब प्रकार के भय से मुक्त समझता है, उसी प्रकार प्रार्थना में हम प्रभु की गोद में पहुँचकर सांसारिक दु:खों से मुक्त हो जाते हैं। प्रार्थना से अध्यात्म ज्ञान, मानसिक शान्ति, शारीरिक शक्ति तथा आत्मबल प्राप्त होता है।

प्रार्थना द्वारा अहंकार का दमन और लघुता का भान सरलता से होने लगता है। संरक्षणात्मक शक्ति पर अटूट आस्था उत्पन्न होने से मानव महान बनने लगता है। वह किसी भी श्रेष्ठ कार्य को करते हुए अपने को अकेला अनुभव नहीं करता। प्रसिद्ध है कि एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। किसी कठिन कार्य को करते हुए यदि एक सच्चे सहायक का सहारा मिल जाये तो मनुष्य की शक्ति केवल दुगनी ही नहीं होती अपितु ग्यारह गुनी हो जाती है। इसलिये सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है ईश्वर में असीम विश्वास। प्रभु के भरोसे सब कार्य छोड़ देने से मनुष्य सब कामों को करते हुए भी मानसिक अशान्ति या रुकावट का अनुभव नहीं करता। प्रार्थना से मन में निराशात्मक विचारों का आना रुक जाता है और अनेक मानसिक रोगों का अन्त हो जाता है। जब मनुष्य अपने गुण-अवगुणों तथा कार्यों के विषय में तीव्रता से विचारता है तो वह विक्षिप्त हो उठता है, परन्तु जब वह अपने आपको तथा अपने कार्यों को प्रभु के ऊपर छोड़ देता है तो उसे अलौकिक शान्ति का अनुभव होता है। श्रद्धा, कल्पना और तन्मयता की विचार-वीचियों में वह आकर्षण है जो आँखों में ऐसा आलोक उत्पन्न कर देती है कि चित्त जगमगाने लगता है। अन्तर्यामी की असीम अनुकम्पा के स्नेहिल स्पर्श से हृदय-हिम पिघलने लगता है। उस आलोक में आधि-व्याधि का अन्धकार पैर कैसे जमा सकता है? जगत-पिता के समक्ष शुभेच्छा पूर्ति के लिये की गई प्रार्थना निष्फल नहीं हो सकती। शारीरिक रोग भी प्रार्थना के द्वारा शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। 'नोबल' पुरस्कार विजेता डॉ. एलकसिस केरल लिखते हैं:-

''मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि घाव, फोड़े, कैंसर, क्षय, पाण्डु आदि रोग केवल ईश्वर प्रार्थना से शीघ्र ठीक हो गये।''

ईश्वर में विश्वास वास्तव में अपने आप में विश्वास है। आत्म-विश्वास से ही मनुष्य फलता फूलता है और उसके नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। महात्मा गाँधी कहा करते थे – ''बिना हवा पानी के चाहे में जी जाऊँ, परन्तु बिना ईश्वर प्रार्थना के जीना असम्भव है। आप मेरी आँखे निकाल दें तो मैं मरूँगा नहीं परन्तु ईश्वर में मेरे विश्वास को समाप्त कर दें तो मैं मरा जैसा ही हूँ।'' इसीलिये वे प्रार्थना पर बहुत बल दिया करते थे।

प्रार्थना निष्काम तथा सकाम – दो प्रकार की होती है। निष्काम प्रार्थना से आत्मबल बढ़ता है, आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। सकाम प्रार्थना से भौतिक कामनायें पूरी होती हैं। प्रार्थना का एक प्रकार और है जो सकाम तथा निष्काम का मिश्रण कहा जा सकता है। भगवान कृष्ण ने इसी पर विशेष बल दिया है। उनका आशय है कि संसार में कर्म भी करते रहो और प्रभु नाम भी जपते रहो। यही प्रकार हमारी वर्तमान जगत की परिस्थितियों के अनुकूल पड़ता है।

मानव मन अशान्ति का आगार है। चाहे हमें धन, पुत्रादि द्वारा कितना ही सुख क्यों न मिल जाये, फिर भी अघटित कल्पनाओं से यह मन सदैव अशान्त तथा दु:खी बना रहता है। इस अवस्था में केवल प्रभु की शरण जाने पर ही शान्ति प्राप्त होती है। आर्य ऋषियों ने इसका वास्तविक तत्त्व इस प्रकार बताया है कि जो जिसके पास होता है, वह उसी से मिल सकता है। प्रकृति स्वयं परिवर्तनशील अर्थात् अशान्त है, उससे शान्ति मिलना असम्भव है, किन्तु परमात्मा शान्ति के समुद्र है, उनके स्मरण मात्र से शान्ति प्राप्त होती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रार्थना अत्यधिक उपयोगी

है। यह तो हम जानते ही हैं कि चेतन मन के अतिरिक्त एक हमारा अचेतन मन भी है जिसका अनुभव प्राय: हमें हुआ करता है। कभी हम किसी वस्तु को रखकर भूल जाते हैं और बहुत ध्यान देने पर भी वह याद नहीं आती परन्तु कुछ समय पश्चात एकाएक याद आ जाती है। यह अचेतन मन का ही प्रभाव है। हमारा यह अचेतन मन आश्चर्यजनक सामर्थ्यों का भण्डार है। प्रार्थना हमारे ध्यान को चेतन मन की ओर से हटाकर अचेतन मन की ओर आकर्षित कर देती है। इस अचेतन प्रदेश में जीवन का मूल स्रोत है जिसका अन्वेषण दु:साध्य है। गुप्त मन सदैव निर्विघ्न रूप से अपना काम किया करता है। रात्रि में निद्रावस्था में इसका कार्य और भी तेजी से सम्पन्न होता है यद्यपि हम इसके द्वारा उत्पन्न धाराओं को समझ नहीं पाते। जब किसी आकस्मिक उत्तेजना से गुप्त मन की शक्तियों का केन्द्र खुल जाता है तो मनुष्य यकायक प्रतिभा सम्पन्न हो उठता है। बड़े से बड़ा पापी भी एक दम पुण्यात्मा बन जाता है, जीवन धारा एकदम बदल जाती है। इसलिये मनोविज्ञान की दृष्टि से भी प्रार्थना का सीधा प्रभाव गुप्त मन पर पड़ता है। मनोवैज्ञानिक प्रार्थना को एक प्रकार का संकेत या निर्देश कहते हैं। जिन भावनाओं का प्रभाव जितनी ही जल्दी गुप्त मन पर पड़ता है उतनी ही शीघ्र वह प्रार्थना फलवती होती है। प्रार्थना गुप्त मन की शक्तियों को खोलने वाली कुँजी है। प्रार्थना करते समय चेतन मन की अवस्था कुछ काल के लिये मन्द पड़ जाती है। एकाग्रता होने के कारण संकेतों का सीधा प्रभाव अचेतन मन पर पड़ता है। अचेतन मन जो शक्ति का भण्डार है उन सूचनाओं को ग्रहण कर लेता है। अत: प्रार्थना में जितनी तत्परता एवं सत्यता होगी उतना ही शीघ्र एवं चिरस्थायी लाभ होगा। प्रार्थना की अवस्था में मन की दशा ग्रहणशील हो जाती है। अत: वह शीघ्रता से दिव्य भावनाओं को ग्रहण कर लेता है। अत: सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम देखते हैं कि मानव जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रार्थना अत्यन्त आवश्यक है। मानव अपनी शक्तियों से अनभिज्ञ है। परमाणु बम के आविष्कार से हमने जाना है कि एक छोटे-से परमाणु में इतनी शक्ति है, तो हमारी आत्मा में कितनी शक्ति होगी? आत्म साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीत होती है। स्वात्म ज्ञान की प्राप्ति प्रार्थना के द्वारा ही सम्भव है। आत्म ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म ज्ञान सुलभ होता है। जब तक मानव अपने स्वरूप और अपनी शक्ति को नहीं पहचानता तब तक वह समझता है कि संसार का केन्द्र 'मैं' ही हूँ अर्थात् उसके लिये अहम् या मैं की महिमा सबसे ऊँची बनी रहती है। जब वह अपने वास्तविक रूप को भली प्रकार अनुभव कर लेता है, तो दो सत्य उसके हृदय पर अंकित हो जाते हैं – पहला यह कि मैं शरीर और इन्द्रियों से भिन्न उनका अधिष्ठाता और कर्मों का कर्त्ता हूँ। दूसरा यह कि मेरी शक्ति परिमित है और ब्रह्माण्ड को चलाने वाली कोई शक्ति मुझसे बहुत बड़ी है – वह बड़ी शक्ति को जानना चाहता है। वेद-मन्त्र में कहा गया है कि कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करो, परन्तु उसमें लिप्त न हो। कर्म करते हुए उसमें लिप्त न होना उसी मनुष्य के लिए सम्भव है जो शरीर में रहता हुआ भी अपने आपको शरीर से भिन्न अनुभव करता है – उसका स्वामी बनकर रहता है। वह शरीर और इन्द्रियों के सुख को अपना असली सुख नहीं समझता। इस प्रकार का ज्ञान होने पर सब संशय नष्ट हो जाते हैं। अत: प्रार्थना जीवन का वह सर्वोच्च शिखर है जिस पर आसीन होकर भ्रान्त मानव सत्य का अधिकाधिक दर्शन कर लेता है। परन्तु प्रार्थना में एकाग्रता अति आवश्यक है। भक्ता मीरा एक स्थान पर माला को उलाहना देती हुई कहती हैं:–

माला तुझको मैं तब समझूँ,
जपती हूँ मैं जितनी बार।
जिनका नाम, नयन के सम्मुख,
आ जावें वे उतनी बार॥

वास्तव में तभी सच्ची प्रार्थना है जब हमारा मन प्रार्थना के समय एकाग्र होकर प्रभु-चरणों में निमग्न हो जाये।

- श्रीमती चन्द्रावती शर्मा, मेरठ

नियतं कुरु कर्म त्वं

गीता एक अति विशिष्ट शास्त्र है। जो ज्ञान स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निसृत हुआ हो वह विशिष्ट तो होगा ही। इसकी विशिष्टता यह भी है कि यह द्वापर युग के अन्त में कहा गया था और इस बात को ध्यान में रखा गया था कि आगामी युग (कलियुग) में लोगों की आयु तो कम होगी ही, आत्म-कल्याण के लिये जागरूकता भी कम होगी और समय भी कम होगा। साथ ही भोग-विलास में आकर्षण अधिक होगा, कर्म-काण्ड (पाखण्ड) का विस्तार अधिक होगा। पूजा-पाठ का एकमात्र उद्देश्य रह जायेगा निजी स्वार्थ की पूर्ति और येन-केन प्रकारेण क्षणिक भौतिक सुखों की प्राप्ति। ऐसे युग के लिये आत्म-कल्याण की जो सरल विधि भगवान् ने अर्जुन को माध्यम बनाकर सारे संसार को प्रदान की वह अत्यन्त उपयोगी और वाँछनीय थी। भगवान् भलीभाँति जानते थे कि वेदों, उपनिषदों व आध्यात्मिक गुरुओं का लोप होने वाला है, इसलिये उपनिषदों का सार संक्षेप में संजोकर रख दिया। गीता को भली प्रकार समझने पर अन्य किसी शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

गीता में आत्म-कल्याण अथवा ईश्वर प्राप्ति के मुख्यतः तीन मार्ग बताये गये है - कर्म योग, ज्ञान योग तथा भक्ति योग। जिसकी जिस योग में निष्ठा हे, उसी का सहारा लेकर वह आगे बढ़ सकता है परन्तु ज्ञान योग व भक्ति योग में जाने के लिये भी कर्म योग का आश्रय तो लेना ही पड़ता है क्योंकि कर्म के बिना तो कोई भी कार्य सम्भव ही नहीं है। यही कारण है कि गीता का कोई भी अध्याय कर्म योग से अछूता नहीं है।

कर्म योग का प्रारम्भ गीता के श्लोक 2/47 से होता है जिसमें कहा गया है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

अर्थात् कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं। साथ ही कहा गया –

मा ते सङ्गोऽस्तु अकर्मणि।

अर्थात् कर्म करना तेरा कर्तव्य भी है। तुझे अकर्मण्य नहीं होना है। फल में अधिकार नहीं है का अर्थ यह नहीं है कि फल मिलेगा नहीं। मनुस्मृति में कहा गया है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

गीता में कहा गया है –

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥
(18/12)

अर्थात् कर्मों का फल तो मरने के पश्चात् अगले जन्म में भी भोगना पड़ेगा। तो सन्देश क्या है – कि कर्म तो करने ही हैं पर नेक कर्म करने हैं, शुभ कर्म करने हैं, नियत कर्म करने हैं –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥
(3/8)

अब प्रश्न होता है कि शास्त्रविहित कर्म कौन से हैं। यही प्रश्न तो गीता का मुख्य विषय है। यही तो उलझन थी जिसको सुलझाने के लिये भगवान् को पूरी गीता कहनी पड़ी। युद्ध में सामने खड़े सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन सहसा किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि इनको युद्ध में मारना श्रेयस्कर होगा अथवा युद्ध छोड़कर भिक्षा का अन्न खाना। अर्जुन ने सुन रखा था कि गुरुजनों की हत्या करने से घोर पाप का भागी होना पड़ता है। धनुष-बाण त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है, कहता है – युद्ध नहीं करूँगा।

यहाँ भगवान् को विस्तार से समझाना पड़ता है कि वास्तव में पाप क्या है, पुण्य क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है। अर्जुन को यह जानकर

विस्मय होता है कि युद्ध के मैदान में प्रतिद्वन्द्वियों को मारने से पाप नहीं लगेगा बल्कि युद्ध छोड़ कर भागने से पाप लगेगा।

प्राय: ऐसी ही परिस्थितियों का सामना प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में करना पड़ता है जहाँ यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि क्या करूँ, क्या न करूँ। इस विषय में गीता के अध्याय 16 में पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त होता है जिसमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा वाले मनुष्यों के कार्यों का विभाजन किया गया है। अध्याय 14, 17 व 18 में भी सात्त्विकी, राजसी व तामसी कार्यों का विभाजन किया गया है किन्तु मूलभूत सिद्धान्त यह है कि ईश्वर ने मनुष्यों को उनकी योग्यता, कर्म व अधिकार के अनुसार अलग-अलग परिस्थितियों में रखा है। उन्हीं परिस्थितियों के अनुरूप उनके कर्तव्यों का निर्धारण होता है। अर्जुन एक क्षत्रिय है और परिस्थिति है युद्ध की। तो इस परिस्थिति के अनुसार गुरुजनों, बन्धुओं सगे-सम्बन्धियों को मारना ही कर्तव्य है।

गीता में भगवान् ने बताया है कि मानव-समुदाय को गुण और कर्मों के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(4/13)

और ये वर्ण या जाति हैं –

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै:॥

(18/41)

ये चार वर्ण हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्तव्य स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा विभक्त किये गये हैं। आगामी तीन श्लोकों में इनके स्वाभाविक कर्म बताये गये हैं –

1. **ब्राह्मण** – अन्त:करण का निग्रह (शम); इन्द्रियों का दमन (दम); धर्म पालन के लिये कष्ट सहना (तप); बाहर भीतर से शुद्ध रहना (शौच); दूसरों के अपराधों को क्षमा करना (क्षान्ति); मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना (आर्जवम्); वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक में श्रद्धा रखना (आस्तिकता); वेद, शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन (ज्ञान); परमात्मा के तत्व का अनुभव करना (विज्ञान)।
2. **क्षत्रिय** – शूर-वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव।
3. **वैश्य** – खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय में सत्य-व्यवहार।
4. **शूद्र** – सब वर्णों की सेवा करना।

इन सबके कर्तव्य निश्चित करने के बाद कहा कि ये कर्तव्य ही इनके अपने-अपने धर्म हैं, स्वभाव हैं और स्वभाव से नियत किये हुए कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।

(18/47)

व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाये तो सारा मनुष्य समुदाय एक जैसा कर्म नहीं कर सकता। रिक्शा-चालक यदि वायुयान उड़ाना चाहे तो यह कार्य उसके लिये असम्भव है। इसी प्रकार खेत में हल चलाने वाला किसान वातानुकूलित कार्यालय में बैठकर कार्य नहीं कर सकता। और तो और, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, चार्टर्ड अकाउंटेंट, न्यायाधीश – कोई भी एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकते। और न ही ऐसा करने से सृष्टि का संचालन सम्भव है। यदि सभी लखपति हो जायें, भवनों, दुकानों, कारों के मालिक हो जायें तो मकान बनायेगा कौन, फैक्टरी बनायेगा कौन, कपड़ा कौन बुनेगा – आदि-आदि।

इन सबके अतिरिक्त करणीय और अकरणीय के सम्बन्ध में कुछ नियम ऐसे भी हैं जो सब पर लागू होते हैं। भगवान् ने सभी को श्रेष्ठ कर्म करने का आदेश दिया है और साथ ही दुष्कर्मों को त्यागने का भी। करणीय कर्मों में मुख्यत: तीन कर्म बताये हैं – यज्ञ दान और तप।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(18/5)

यज्ञ का अर्थ चतुर्थ अध्याय में भली प्रकार समझाया गया है।

साधारण भाषा में अग्नि में, हवन कुण्ड में डालकर भस्म कर देने को यज्ञ कहा जाता है। जो कुछ भी हवन कुण्ड में डाला जाता है वह देवताओं के प्रति अर्पित करना होता है, त्याग करना होता है। अध्याय 4 के श्लोक 19 में कहा गया है कि जिसके सम्पूर्ण कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञानी है, उसके कर्म भगवान् को ही समर्पित होते हैं, ऐसे कर्म फलदायक नहीं होते, वे वास्तव में अकर्म होते हैं। जो कुछ भी हवन कुण्ड में डाला जाता है, वह अपना तो रहता ही नहीं। यही बात कर्मों के साथ है। अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करो और ईश्वर को अर्पित कर दो।

दूसरा करणीय कर्म बताया है तप। अध्याय 17 में बताया गया है कि तप शरीर, वाणी और मन से किया जाता है जो संसार में रहकर ही किया जाता है। देवता, ब्राह्मण, गुरुजनों व ज्ञानीजनों का पूजन पवित्रता, सरलता और अहिंसा – ये शरीर-सम्बन्धी तप बताये गये हैं।

जो उद्वेग न करने वाला अर्थात् दूसरे को कष्ट पहुँचाने वाली वाणी का प्रयोग न करना, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ (सत्य) भाषण है तथा स्वाध्याय का अभ्यास है वह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मन से प्रसन्न रहना (द्वेष भाव का अभाव), शान्त भाव में रहना, भगवान् का चिन्तन करते रहना, मन का निग्रह अर्थात् कुविचारों को मन में न आने देना और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता अर्थात् राग द्वेष से सर्वथा रहित होना – यह सब मन-सम्बन्धी तप कहलाता है।

तीसरा करणीय कर्म है दान – सात्त्विक दान। सात्त्विक दान ही करणीय है, राजसी और तामसी नहीं।

सात्त्विक दान वह होता है जो निष्काम भाव से किया जाता है, दान देना ही कर्तव्य है – यह सोचकर किया जाता है, जो कुछ है सब भगवान् का है, मेरा कुछ भी नहीं है – इस भाव से किया जाता है, मान, बड़ाई, यश, कीर्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाता, जहाँ, जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसी की पूर्ति के लिये किया जाता है, दान लेने वाले से प्रत्युपकार की सम्भावना ही न हो ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है – वह होता है सात्त्विक दान जो करणीय बताया गया है।

जिन दुष्कर्मों से बचने की या त्यागने की आज्ञा दी है वे हैं –

मिथ्या भाषण, दम्भाचरण, कटु वाणी, कठोरता, पाखण्ड, घमण्ड, शत्रुता, द्वेष, राग, सबका अपकार करना, भोग विलास में लिप्त रहना, दूसरे की आजीविका का नाश करना, स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ समझना, भ्रष्ट आचरण, न पूर्ण होने वाली कामनाओं का पालना, काम व क्रोध के वश में होना, सांसारिक लोगों से आशा व अपेक्षा रखना, दूसरों की निन्दा करना, चोरी करना, हत्या करना, किसी प्रकार का भी शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट देना – ये सब निषिद्ध हैं।

भगवान् ने यह भी कहा है कि सत्कर्म करने वाले और दुष्कर्मों को त्यागने वाले ही मेरे भक्त हो सकते हैं, दुष्कर्म करने वाले कदापि नहीं। अतः दुष्कर्मों से बचना और सत्कर्म में लगना ही मानव का परम कर्तव्य है।

– रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

शुभ समाचार

अत्यन्त हर्ष के साथ सूचित किया जाता है कि साधना परिवार की वरिष्ठ साधिका श्रीमती प्रमोद बाला रस्तोगी जी की पौत्री सुश्री ईशा रस्तोगी का शुभ विवाह दिनांक 30 नवम्बर 2020 को सम्पन्न हुआ। इस उपलक्ष्य में श्रीमती प्रमोद बाला जी ने रु. 2500/- (दो हजार पाँच सौ रुपये) की राशि गुरु चरणों की सेवा में अर्पित की। समस्त साधना परिवार सुश्री ईशा के सफल वैवाहिक जीवन की कामना करता है।

शोक समाचार

अत्यन्त दु:ख के साथ सूचित किया जाता है कि,
श्रीमती शकुन्तला कटपालिया धर्मपत्नी श्री सत्यपाल कटपालिया ने दिनांक 30 अक्टूबर 2021 को दिल्ली में नश्वर देह का परित्याग कर गुरु धाम को प्रस्थान किया।

❖ ❖ ❖

साधिका श्रीमती कृष्णा गर्ग की देवरानी व श्री तरुण आनन्द की माता जी श्रीमती कमल गर्ग का 21 अक्टूबर 2021 को देहावसान हो गया। अपनी माता जी की स्मृति में श्री तरुण आनन्द जी ने रु. 21,000/- (इक्कीस हजार रुपये) की राशि गुरु चरणों में अर्पित की।

❖ ❖ ❖

कानपुर निवासी साधक श्री सुधीर अवस्थी एवं श्रीमती मंजू अवस्थी के सुपुत्र श्री अंकुर अवस्थी का दिनांक 17 अक्टूबर 2021 को असामयिक निधन हो गया। अपने दिवंगत पुत्र की आत्मा की सद्गति हेतु अवस्थी दम्पत्ति ने रु. 11,000/- (ग्यारह हजार रुपये) की राशि गुरु चरणों में अर्पित की।

❖ ❖ ❖

दिनांक 4 नवम्बर 2021 को दीपावली के दिन हमने अति वरिष्ठ एवं अति उदार हृदय साधक गुरुग्राम निवासी श्री बी.के. महरोत्रा जी को खो दिया जिसकी क्षतिपूर्ति निकट भविष्य में असम्भव है। साधना धाम में श्री महरोत्रा जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

❖ ❖ ❖

एक विलम्ब से प्राप्त हुए समाचार से ज्ञात हुआ है कि स्वामी जी के अति प्रिय शिष्यों में से एक श्री तेजेन्द्र प्रताप सिंह का देहावसान गत बर्ष दिसम्बर माह में हो गया था। श्री सिंह ने एक पुस्तिका 'गुरु के प्रति निष्ठा' नाम से प्रकाशित करवाई थी जिसमें उन्होंने स्वामी जी के देह-त्याग के उपरान्त उनसे सशरीर मुलाकात का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में किया है। यह पुस्तक साधना धाम के पुस्तकालय में नि:शुल्क उपलब्ध है।

❖ ❖ ❖

पूज्य गुरुदेव से विनम्र प्रार्थना है कि इन सभी दिवंगत आत्माओं को अपने श्री चरणों में स्थान दें तथा इनके परिवार जनों को इनका वियोग सहने की यथायोग्य शक्ति प्रदान करें।

अपील

सभी प्रिय साधक भाई बहनों को राम राम!

जैसा कि आप सभी जानते हैं कि साधना धाम हरिद्वार में बरामदों में पत्थर लगवाने तथा दिगोली धाम में रसोई एवं अन्य निर्माण कार्य की योजना काफी समय से बनाई जा रही थी किन्तु कोरोना महामारी के कारण ये दोनों ही कार्य नहीं कराए जा सके। परन्तु अब समय अनुकूल होने पर बरामदों में पत्थर लगवाने का कार्य प्रारम्भ किया जा चुका है तथा दिगोली धाम में भी शीघ्र ही निर्माण कार्य प्रारम्भ होना है। हम सभी साधक भाई बहन गुरुधाम में नवनिर्माण में बढ़-चढ़ कर अपना योगदान देते रहे हैं।

अतः आप सभी से गुरु बहन होने के नाते मैं अपील करती हूँ कि धाम में बरामदों में फर्श पर पत्थर लगवाने तथा दिगोली धाम में रसोई एवं अन्य निर्माण के इस पुनीत यज्ञ में अपनी अपनी सामर्थ्य/इच्छानुसार दान की आहुति दें एवं पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा प्राप्त करें। आप अपना दान धाम के बैंक एकाउंट में **NEFT / UPI / IMPS** अथवा चैक के माध्यम से जमा कर सकते हैं। हाँ, दान के पश्चात इसकी सूचना जिसमें अपना नाम, शहर, दान की राशि, दान की तिथि, तथा ट्रांजेक्शन नम्बर आदि की जानकारी धाम के व्हाट्सअप नम्बर **8273494285** अथवा अनिरुद्ध जी के मोबाइल नम्बर **9690187900** पर अवश्य दे दें ताकि उपयुक्त रसीद काटी जा सके।

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Bank of India, Haridwar
A/c No.: 721010110003147
I.F.S. Code: BKID0007210

Swami Ramanand Sadhna Pariwar
Punjab National Bank, Haridwar
A/c No.: 00112010000220
I.F.S. Code: PUNB0001110

SWAMI RAMANAND SADHANA PARIVAR
XXXX 3147

गुरु के नाते
आपकी बहन
रमन सेखड़ी
अध्यक्षा, साधना परिवार

श्री स्वामी रामानन्द जी साधना साहित्य

1. आध्यात्मिक विकास 2. आध्यात्मिक साधना (प्रथम खण्ड) 3. आध्यात्मिक साधना (द्वितीय खण्ड) 4. Evolutionary Outlook on Life 5. Evolutionary Spiritualism	इन पुस्तकों में श्री स्वामी जी ने अपनी विकासवादी नवीनतम साधना पद्धति का विस्तार से वर्णन किया है।
6. जीवन-रहस्य अथवा उत्पादिनी शक्ति	काम शक्ति तथा अध्यात्म विषय पर स्वामी जी द्वारा विशद् व्याख्या
7. गीता विमर्श	श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम 7 अध्यायों की स्वामी जी द्वारा विशद् व्याख्या
8. व्यावहारिक साधना	पूज्य स्वामी जी द्वारा लिखित तीन लेखों – (1) साधकों के लिये, (2) दम्पत्ति के लिये, (3) माता-पिता के प्रति का संकलन
9. कैलाश-दर्शन	पूज्य स्वामी जी ने कुछ साधकों के साथ कैलाश-पर्वत की यात्रा व परिक्रमा की थी। उस यात्रा का एवं उनकी आत्मानुभूति का विशद् वर्णन
10. गीतोपनिषद	श्रीमद्भगवद्गीता के आठ से अठारह अध्याय तक की स्वर्गीय श्री के.सी. नैयर जी द्वारा व्याख्या
11. हमारी साधना 12. हमारी उपासना 13. साधना और व्यवहार 14. अशान्ति में 15. मेरे विचार 16. As I Understand 17. My Pilgrimage to Kailash	श्री पुरुषोत्तम भटनागर द्वारा सम्पादित
18. Sex and Spirituality	जीवन-रहस्य
19. Our Worship	हमारी साधना
20. Our Spiritual Sadhana Part-I	आध्यात्मिक साधना (प्रथम खण्ड)
21. Our Spiritual Sadhana Part-II	आध्यात्मिक साधना (द्वितीय खण्ड)
	(प्रो. डा. लक्ष्मी सक्सेना द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित पुस्तकें)
22. स्वामी रामानन्द-एक आध्यात्मिक यात्रा	स्वस्पष्ट प्रो. डा. लक्ष्मी सक्सेना
23. पत्र-पीयूष	कु. शीला गौहरी द्वारा साधकों के नाम स्वामी जी के पत्रों का संकलन
24. स्वामी रामानन्द-चरित सुधा	स्व. डा. कविराज नरेन्द्र कुमार एवम् वैद्य श्री सत्यदेव
25. स्वामी रामानन्द-वचनामृत	श्री जगदीश प्रसाद द्विवेदी द्वारा गुरुदेव की पुस्तकों से संकलन
26. मेरी दक्षिण भारत-यात्रा	पूज्य सुमित्रा माँ जी द्वारा दक्षिण भारत यात्रा का रोचक वर्णन
27. पत्तियाँ और फूल	भजन, पद, कीर्तन, आरती आदि का संकलन
28. दैनिक आवाहन विधि	स्वामी जी की साधना प्रणाली पर आधारित – श्रीमती महेश प्रकाश
29. Letters to Seekers	कु. शीला गौहरी एवं श्री विजय भण्डारी द्वारा साधकों के नाम स्वामी जी के अंग्रेजी पत्रों का संकलन
30. आत्मा की ओर	
31. जीवन विकास – एक दृष्टि	Evolutionary Outlook on Life का हिन्दी अनुवाद
32. विकासात्मक अध्यात्म	Evolutionary Spiritualism का हिन्दी अनुवाद
33. गुरु के प्रति निष्ठा	तेजेन्द्र प्रताप सिंह
34. माँ की विभूति – भक्ति रस (भाग 1) 35. माँ की विभूति – भक्ति रस (भाग 2) 36. माँ की विभूति – भक्ति रस (भाग 3) 37. माँ की विभूति – भक्ति रस (भाग 4) 38. माँ की विभूति – भक्ति रस (भाग 5)	अनाम साधिका
39. श्रीराम भजन माला	श्री सूर्य प्रसाद शुक्ल 'राम सरन'
40. पत्र पीयूष सार	
41. माँ का भाव भरा प्रसाद गुरु का दिव्य प्रसाद	मीरा गुप्ता